पंजाब विश्वविद्यालय, चण्डीगढ़
की नवीन सेमेस्टर परीक्षा प्रणाली पर आधारित
आपका पाठ्यक्रम
एम.ए. हिन्दी (द्वितीय सेमेस्टर) परीक्षा

# पाश्चात्य काव्यशास्त्र एवं समकालीन आलोचना सिद्धान्त

(चतुर्थ प्रश्न-पत्र) भाग - 2

पूर्णांक : 80 आन्तरिक मूल्यांकन : 20 समय : 3 घण्टे

निर्देश एवं अंक विभाजन–

इस प्रश्न पत्र में प्रश्न दो प्रकार से पूछे जाएंगे। पहले स्तर पर आठ दीर्घ प्रश्न पूछे जाएंगे, जिनमें से चार का उत्तर देना आवश्यक होगा। इस प्रश्न-पत्र में पूरे पाठ्यक्रम से इस प्रकार प्रश्न पूछे जाएँगे कि परीक्षार्थी के लिए पूरे पाठ्यक्रम का अध्ययन अनिवार्य हो जाए। इससे संबंधित पाठ्यक्रम दो खण्डों में विभाजित होगा। खण्ड (क) में से दो और खण्ड (ख) में से भी दो प्रश्न अनिवार्य होंगे। इससे दूसरे स्तर पर पूरे पाठ्यक्रम से आठ लघु प्रश्न पूछे जायेंगे जिनमें से चार का उत्तर देना आवश्यक होगा। प्रत्येक प्रश्न का उत्तर 70-80 शब्दों में दिया जाए।

अंक विभाजन चार दीर्घ प्रश्न – 15 × 4 = 60 अंक

चार लघु उत्तरीय प्रश्न – 5 × 4 = 20 अंक

पाठ्यक्रम

खण्ड क

1. प्लेटो – आदर्शवाद
2. अरस्तु – अनुकरण सिद्धान्त एवं विरेचन सिद्धान्त
3. होरेस – औचित्य सिद्धान्त
4. लौंजाइनस– उदात्त सिद्धान्त
5. टी.ए. इलियट – परम्परा और वैयक्तिक प्रज्ञा का सिद्धान्त
6. आई.ए. रिचर्ड्स – मूल्य सिद्धान्त

खण्ड ख

1. मार्क्सवाद, 2. मनोविश्लेषणवाद, 3. अस्तित्वाद, 4. शैलीविज्ञान, 5. संरचनावाद और उत्तर-आधुनिकतावाद, 6. नारी विमर्श एवं दलित विमर्श।

# विषयसूची

पृष्ठ

भाग-2 (खण्ड–क)


1. प्लेटो के आदर्शवाद की संक्षिप्त विवेचना कीजिए। 88
2. अरस्तु के विरेचन-सिद्धान्त की समीक्षा कीजिए। 92
3. अरस्तु के अनुकृति-सिद्धान्त (अनुकरण-सिद्धान्त) की मीमांसा कीजिए। 96
4. लोंजाइनस के उदात्त तत्त्व सिद्धान्त की आलोचना कीजिए। 101
5. होरेस की काव्य सम्बन्धी मान्यताओं की विवेचना कीजिए। 105
6. टी.एस. इलियट के काव्य-सिद्धान्तों की समीक्षा कीजिए। 110

अथवा

**कवि व्यक्ति की अभिव्यक्ति नहीं करता, केवल माध्यम होता है।**

इलियट के आलोचना सिद्धान्त का विवेचन करते हुये उक्त कथन के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट कीजिए।

अथवा

इलियट की परम्परा की परिकल्पना का उल्लेख कीजिए।

7. टी.एस. इलियट के वैयक्तिक पक्ष के सिद्धान्तों का उल्लेख कीजिए। 115
8. आई.ए. रिचर्ड्स के मूल्य-सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवेचन कीजिए।121


खण्ड-ख


1 मार्क्सवादी आलोचना का संक्षिप्त विवेचन कीजिए। 126
2. मनोविश्लेषणवाद की परिभाषा देकर इसकी मुख्य विशेषताओं का उल्लेख कीजिए। 133


अथवा

सिगमण्ड फ्रायड अलेफ्रेड एडलर आदि के मनोविश्लेषण सिद्धान्त की संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत कीजिए ।

3. अस्तित्ववाद की परिभाषा देकर इसकी मुख्य विशेषताओं का उल्लेख कीजिए । 140

अथवा

अस्तित्त्ववाद की आधारभूत धारणों पर प्रकाश डालते हुए इसके उद्‌भव और विकास वर्णन कीजिए ।

4. संरचना को स्पष्ट करते हुए संरचनावाद एक उत्तर संरचनावाद का उल्लेख कीजिए । 149

अथवा

संरचनावाद के उद्‌गम और विकास का विवेचन कीजिए ।

5. शैली-विज्ञान के स्वरूप का निर्धारण करते हुए इसकी मुख्य विशेषताओं का वर्णन कीजिए । 157

## भाग 2 (खण्ड क)

**1. प्लेटो के आदर्शवाद की संक्षिप्त विवेचना कीजिए ।**

उत्तर – प्लेटो का दृष्टिकोण सर्वत्र स्वतंत्र एवं मौलिक दिखाई देता है जिसका प्रकटीकरण उनके द्वारा रचित विभिन्न दार्शनिक एवं राजनैतिक ग्रंथों में हुआ है । उन्होंने मुख्यतः अधोलिखित तीन कृतियों का सृजन किया है ।

(1) गणराज्य (The Republic)

(2) राजनेता (The Statesman)

(3) विधि (The Laws)

वस्तुतः प्लेटो के साहित्यिक विचार दार्शनिक एवं राजनीतिक सिद्धान्तों से प्रभावित हैं । अतः उनकी साहित्यिक धारणाओं के विवेचन से पूर्व उनके दार्शनिक एवं राजनीतिक विचारों को समझ लेना आवश्यक है ।

**1. प्लेटों का दार्शनिक विचार**

प्लेटो ने शाश्वत और सनातन सत्ता को स्वीकार किया है । इस का तात्पर्य यह है कि प्लेटो ईश्वर को मानते थे । इस चराचर जगत् की सृष्टि करने वाला ईश्वर शाश्वत सत्य है । इस प्रकार प्लेटो की मान्यता के अनुसार ईश्वर शाश्वत है और सृष्टि अस्थायी एवं परिवर्तनशील है । हम देखते हैं कि दर्शन का चरम लक्ष्य सत्य की खोज करना है । परन्तु सत्य के सम्बन्ध में भी दार्शनिकों के मुख्यतः दो वर्ग रहे हैं एक जो किसी सूक्ष्म सत्ता या परोक्ष शक्ति को जिसे परमात्मा का भी नाम दिया जाता है अंतिम सत्य या शाश्वत तत्त्व मानते हैं जबकि दूसरे वर्ग में वे आते हैं जो इस स्थूल एवं भौतिक जगत् को ही सृष्टि का आधारभूत तत्त्व एवं सत्य मानते हैं । इन्हें क्रमशः आदर्शवादी एवं यथार्थवादी कहा जाता है । प्लेटो पहले वर्ग के हैं ।

उन्हीं का विचार है कि इस भौतिक जगत् के पीछे किसी सूक्ष्म, शाश्वत एवं अलौकिक जगत् का आधार है । अतः यह जगत् और इसके पदार्थ मिथ्या है जब कि उनका वास्तविक रूप विचार रूप में अध्यात्म लोक में विद्यमान हैं इस सृष्टि का निर्माण किसी अलौकिक शक्ति के विचारों के अनुसार हुआ ।

अतः विचार मूल तत्त्व है जब कि वस्तु मिथ्या है । प्लेटो के अनुसार इस संसार में जितनी वस्तुएँ है वे सभी विचार रूप में अलौकिक जगत् में विद्यमान हैं । सांसारिक पदार्थ अपूर्ण, परिवर्तनशील एवं नाशवान् है । अतः वे मिथ्या हैं जबकि अलौकिक जगत् में विद्यमान उनका विचार या प्रत्यय अपरिवर्तनीय एवं नाशवान् है । अतः वे मिथ्या हैं जबकि अलौकिक जगत् में विद्यमान उनका विचार या प्रत्यय अपरिवर्तनीय एवं शाश्वत होने के कारण सत्य है । इस प्रकार वस्तु की अपेक्षा विचार या तत्त्व को ही प्रमुखता देने के कारण ही प्लेटो के विचारों को तत्त्ववाद या आदर्शवाद के नाम से पुकारा जाता है ।

**2. राजनैतिक विचार** – प्लेटो के समय यूनान की राजनीति अत्यंत अस्त-व्यस्त अवस्था में थी । स्वयं प्लेटो के नगर में प्रजातंत्रीय व्यवस्था थी परन्तु वह भी अति शोचनीय स्थिति में पहुँच गई थी । प्रजातंत्र में जब शक्ति कुछ अदूरदर्शी स्वार्थी, विलासी, धन लोलुपों के हाथ में चली जाती है तो वह मूर्खों का शासन सिद्ध होता है । एथेन्स के इस मूर्ख शासन ने ही प्लेटो के गुरु सुकरात के प्राण के लिये थे जिसकी प्रतिक्रिया प्लेटो के मन में भी अत्यंत तीव्र रूप में हुई थी । कदाचित इसलिये वह एक ऐसी शासनप्रणाली का आविष्कार करने के लिये लालायित थे । जिस से सत्य के पुजारियों को सर्वोपरि स्थान प्राप्त हो । यह तभी सम्भव है जबकि शासन की सत्ता किसी सत्यवेता विद्वान् एवं सदाचारी कर्मनिष्ठ व्यक्ति के हाथ में रहे । इसी लक्ष्य की पूर्ति के लिये उसने एक ऐसे गणराज्य की कल्पना की जिसका शासक कोई महान् दार्शनिक महात्मा होगा । अपने ग्रंथ The Republic में प्लेटो ने विस्तार से एक ऐसी योजना पद्धति का प्रतिपादन किया जिससे इस प्रकार के शासक का चयन हो सके ।

प्लेटो का लक्ष्य एक ऐसे राज्य की स्थापना करने का था जिसमें सत्य न्याय, धर्म और सदाचर को पूर्ण प्रतिष्ठा हो सके । इसके लिए एक ओर शासक में इन सबकी प्रतिष्ठा आवश्यक है, तो दूसरी ओर राज्य की सारी व्यवस्था एवं उसका वातावरण भी उसके अनुकूल होना चाहिये ।

**3. साहित्यिक दृष्टिकोण** – प्लेटो के लिये साहित्य का महत्त्व उसी सीमा तक था, जहाँ तक वह उसके आदर्श गणराज्य के नागरिकों में सत्य, न्याय

और सदाचार की भावना की प्रतिष्ठा में सहायक सिद्ध होता है। कला और साहित्य में असीम आनन्द प्राप्त होता है। इस तथ्य को प्लेटो स्वीकार करते हैं परन्तु वे ऐसे आनन्द को जो उपर्युक्त लक्ष्यों की पूर्ति में बाधक सिद्ध हो कोई महत्त्व प्रदान नहीं करते।

दुर्भाग्य से उस समय का यूनानी साहित्य कामोतेजक एवं भावोद्वेलन प्रधान था– अतः सामाजिक हित की दृष्टि से उपयोगी सिद्ध नहीं होता था। फलतः प्लेटो ने साहित्य के विरुद्ध मोर्चा लगाते हुए उस पर अनेक आक्षेप आरोपित किये जिन पर आगे विचार होगा।

**1. मिथ्या तत्त्व** – प्लेटो ने अपने पूर्वोक्त दार्शनिक सिद्धान्त के अनुसार साहित्य को मिथ्या जगत् की मिथ्या अनुकृति सिद्ध किया। उनके विचारानुसार साहित्यकार जिन वस्तुओं या व्यक्तियों या क्रिया-कलापों का उल्लेख करता है। वे पहले से ही भौतिक जगत् में विद्यमान हैं जिनकी अनुकृति वह अपनी कृतियों में प्रस्तुत करते हैं।

**2. अमौलिकता एवं अज्ञानता** – कवि या चित्रकार वस्तुतः कृति नहीं अनुकृति एवं प्रतिकृति मात्र प्रस्तुति करता है। अतः उस पर दूसरा आरोप अमौलिकता एवं अज्ञानता का हो सकता है। जैसे एक मोची के कार्य को देखकर जब दूसरा मोची अनुकृति द्वारा जूतों की जोड़ी बनाता है तो हम उसे अमौलिक तो कह सकते हैं किन्तु अज्ञानी नहीं, क्योंकि वह जब तक जूता बनाने के सारे ज्ञान को प्राप्त नहीं कर लेता तब तक अनुकृति प्रस्तुत नहीं कर सकता। परन्तु कवि या चित्रकार पर यह बात लागू नहीं होती।

**3. अनुपयोगिता** – साहित्यकार अनुकृति के बल पर जो कृति प्रस्तुत करता है, वह किसी भी दृष्टि से उपयोगी सिद्ध नहीं होती। अतः प्लेटो के विचार से कलातमक रचनाएँ समाज के लिये सर्वथा अनुपयोगी हैं। कवि द्वारा वर्णित विषय से न तो उसकी यथा तथ्य जानकारी प्राप्त हो सकती है और न ही उनसे हमारे ज्ञान में अभिवृद्धि होती है तो और उससे शिक्षा-उपदेश भी प्राप्त नहीं होता है। इसलिये प्लेटो ने कवियों को चुनौती देते हुए कहा कि वे सिद्ध करें कि कविता की समाज के लिये क्या उपयोगिता है?

**4. दुर्बलता एवं अनाचार का पोषक** – प्लेटो के विचार से कवि न केवल अनुपयोगी एवं महत्त्वशून्य है, अपितु वह समाज में दुर्बलता एवं अनाचार के पोषण करने का भी अपराध करता है। प्लेटो के विचार से किसी भी समाज और राज्य में सत्य, न्याय और सदाचार की प्रतिष्ठा पर पूरा नियंत्रण रखते हुए विवेक-बुद्धि एवं नीति ज्ञान के अनुसार चले। इसके विपरीत कवि अपनी रचनाओं के माध्यम से व्यक्तियों की वासनाओं और भावनाओं को उद्वेलित करता है– ऐसी स्थिति व्यक्ति को न केवल दुर्बल एवं अशक्त बनाती है अपितु उसे कुमार्ग की ओर भी अग्रसर करती हैं यह ठीक है कि कविता से आनंद मिलता है इसे प्लेटो स्वीकार करते हैं परन्तु ऐसे आनन्द से क्या लाभ जो हममें दुर्बलता एवं दुराचार की प्रवृत्ति का संचार करे।

**5. प्लेटो की उपलब्धियाँ** – काव्य पर आक्षेप लगाने वाले प्लेटो को कवि-हृदय प्राप्त था, लेकिन आदर्शवादी दृष्टिकोण के कारण उसने वासना और बुरी भावनाओं का प्रचार किया। इसका सबसे बड़ा कारण वह समय था, जिसमें प्लेटो अपने सिद्धान्तों का प्रचार कर रहा था। प्लेटो ने समाज के गिरते हुए स्तर को सुधारने का बीड़ा उठाया।

अस्तु, सामान्य रूप में प्लेटो के सभी आक्षेप निरर्थक एवं भ्रामक सिद्ध होते हैं। परन्तु यह बात केवल सच्चे साहित्यकारों की सात्विक रचनाओं के आधार पर ही कही जा सकती है। कई बार कवि एवं कलाकार भी युगीन प्रवृत्तियों से बहकर अपनी रचनाओं को वासनाओं, कण्ठाओं एवं अनाचारों की अभिव्यक्ति का माध्यम बनाते हैं। वे कवि कर्म को जीवन की उदात्त एवं गम्भीर साधना बनाने की अपेक्षा उसे कामुक लम्पटों एवं व्यभिचारियों की कला का रूप दे देते हैं–ऐसी स्थिति में कविता सचमुच अपने उच्च सिंहासन से लुड़ककर बाज़ार की गंदी गलियों में कूड़े के ढेर पर आसीन हो जाती है। दुर्भाग्य से प्लेटो भी ऐसे ही वातावरण में जी रहा था। भारतीय रस सिद्धान्त के आधार पर प्लेटो के काव्य-सिद्धान्त की देन का वर्णन करते हुए डॉ. गणपतिचन्द्र गुप्त ने कहा है–

**उसने काव्यानुभूति का स्वरूप आनन्ददायक एवं उसका आधार भावोद्वेलन**

**स्वीकार करते हुए आस्वादन प्रक्रिया के आधारभूत सूत्रों की स्थापना की। इस दृष्टि से प्लेटो की स्थापनाएँ भारतीय रस-सिद्धान्त के बहुत निकट पड़ती है, क्योंकि दोनों ही काव्यानुभूति को भावोद्वेलन के द्वारा आनन्दानुभूति की उपलब्धि मानते हैं।**

**2. अरस्तु के विरेचन-सिद्धान्त की समीक्षा कीजिए।**

उत्तर – विरेचन का अर्थ है विचारों की शुद्धि। वस्तुतः इस शब्द का सम्बन्ध चिकित्सा शास्त्र से है जिसमें रेचक औषधि के द्वारा शारीरिक विकारें की शुद्धि को विरेचन नाम से पुकारा जाता है। इस सिद्धान्त का उल्लेख अरस्तू के दो ग्रंथों–'राजनीति' और 'काव्यशास्त्र' में मिलता है। विरेचन शब्द चिकित्सा शास्त्र से लिया गया है। अरस्तू के पिता वैद्य थे और उन्हें यह शब्द उसी परिवेश से प्राप्त हुआ। रेचक एक प्रकार की औषधि होती है जिसके द्वारा उदर की कोष्ठबद्धता आदि शुद्ध की जाती है। प्रतिकूल पदार्थों के सेवन से जब उदर की आंतरिक व्यवस्था गड़बड़ हो जाती थी जब यूनानी चिकित्सक इस औषधि के द्वारा रोगी का उपचार करते थे। रेचक अस्वास्थ्यकर पदार्थों को पेट से बाहर निकालकर रोगी को पुनः स्वास्थ्य प्रदान करता है। विरेचन शब्द यूनानी चिकित्सा शास्त्र में बहुत पहले से प्रयुक्त होता रहा है। अरस्तू ने इस शब्द को काव्य के संदर्भ में प्रयोग करते हुए इसे लाक्षणिक अर्थ दे दिया।

अरस्तू के व्याख्याताओं ने जिस प्रकार से अनुकृति सिद्धान्त की व्याख्या की है उसी प्रकार विरेचन सिद्धान्त की भी व्याख्या की है और इसके अधोलिखित तीन अर्थ किये हैं–

**1. धर्मपरक अर्थ** – प्रायः सभी देशों में नाटक का आरम्भ धार्मिक उत्सवों के प्रसंग में ही हुआ। प्रो. मरे का कहना है कि यूनान में दिओयूसस नामक देवता से सम्बद्ध एक उत्सव के माध्यम से पिछले वर्ष के पापों और कलुषतापूर्ण संसर्गों से मुक्ति मिलती थी। इसका अभिप्राय है कि विचारों की उत्तेजन और उनके शमन के द्वारा आत्मा की शुद्धि और शान्ति।

**2. नीतिपरक अर्थ** – वारनेज नामक जर्मन विद्वान् ने विरेजन का नीतिपरक अर्थ किया है। मानव का मन अनेक प्रकार के मनोविकारों और

अन्तर्द्वन्द्वों से पीड़ित रहता है। इन मनोविकारों में करुणा और भय दुःखद है। ये रंगमंच पर त्रासदी के माध्यम से प्रेक्षक के मन में वासना रूप से स्थित अतिरिक्त मनोवेगों का निराकरण करके मानसिक सामंजस्य की प्रतिष्ठा करते हैं। अब इसका अर्थ हुआ मनोविकारों के उत्तेजन और शमन अंतर्वृत्तियों का सामंजस्य और विशदीकरण।

यदि फ्रायडीय मनोविज्ञान के साथ इसकी तुलना की जाये तो दोनों का तालमेल बैठ जाता है। व्यक्ति की बहुत सी अतृप्त वासनायें होती हैं जो उसके अचेतन में जाकर कुण्ठाओं का रूप धारण कर लेती है। कुण्ठाग्रस्त व्यक्ति अनेक प्रकार की मनोग्रंथियों का शिकार हो जाता हैं मनोवैज्ञानिक उपचार के द्वारा जब उसके अचेतन मन में दबी हुई वासनाओं को पुनः उघाड़कर उसका रेचन किया जाता है तब वह पुनः स्वस्थ हो जाता है। यद्यपि अरस्तू के समय में मनोविज्ञान शास्त्र ज्ञान नहीं था फिर भी वह अपने ढंग से विरेचन सिद्धान्त के माध्यम से इसी परिणति पर पहुँचता है।

**3. कलापरक के अर्थ** – अरस्तू के प्रसिद्ध व्याख्याकार प्रो. बुचर ने इस शब्द पर टिप्पणी करते हुए लिखा है–

> **इस शब्द का जिस रूप में अरस्तू ने इसे अपनी कला की शब्दावली में ग्रहण किया है और भी अधिक अर्थ है। यह केवल मनोविज्ञान अथवा निदान शास्त्र के एक तथ्य विशेष का वाचक न होकर एक कला सिद्धांत का अभिव्यंजक है। इस प्रकार त्रासदी का कर्तव्य कर्म केवल करुणा या त्रास के लिये अभिव्यक्ति का माध्यम प्रस्तुत करना नहीं है, किन्तु इन्हें एक सुनिश्चित कलात्मक परिवेश प्रदान करना है इनको कला के माध्यम में डालकर परिष्कृत तथा स्पष्ट करता है।**

जाहिर है बूचर अरस्तु के अभिप्राय को व्यापक अर्थ देते हैं। वे कलात्मक परिवेश की बात उठाकर कलागत आस्वाद की ओर भी संकेत कर देते हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि विरेचन सिद्धान्त के द्वारा अरस्तू प्लेटो के उस कथन का जोकि त्रासदी द्वारा आनंद का अनुभव करते हुए भी सामाजिक

दुःख का अनुभव करता है समाधान प्रस्तुत करता है । अरस्तू का अभिप्राय यह है कि विरेचन द्वारा दुःखानुभूति बहिगत हो जाती है । आई-ए रिचर्ड्स ने अपने ढंग से इसे ही विरोधी दृष्टि से देखते हैं । उनका कहना है कि विरेचन एक रूपक हो सकता है । परन्तु इसे वास्तविक सिद्धान्त की संज्ञा नहीं दी जा सकती ।

डॉ. नगेन्द्र ने अभिनव के सत्वोद्रवों, अरस्तू के विरेचन रिचर्ड्स के 'अन्तःवृत्तियों के सामंजस्य' आचार्य शुक्ल के हृदय की मुक्तावसीा को लगभग अभिन्न माना है ।

विरेचन के मानसिक अर्थ का समर्थन तो मनोविज्ञान भी करता दिखाई देता है । आधुनिक मनोवैज्ञानिक कुण्ठा की बात स्वीकार करते हैं विशेषकर (फ्राइड) कुण्ठा से तात्पर्य अतृप्त वासनाओं के आवेग से ही है । 'कुण्ठा' का निवारण या यों कहा जाये वासनाओं का उचित शमन या परिष्कर न हो तो ये आवेग मानसिक विकार बन जाते हैं । अतः मनोवेगों का परिष्कार उनकी उचित अभिव्यक्ति या परिष्कार में—उसी प्रकार विरेचन भी कार्य करता है अर्थात् प्रेक्षक की मानसिक पीड़ा जो उसके भीतर घुसड़ रही है, वह बाहर निकल जाती है । वारनेज ने इसकी व्याख्या करते हुए स्वीकार किया है कि मनोविकारों का बाहर निकलना ही नहीं, उनका सन्तुलन भी विरेचन के अन्तर्गत आता हैं (A pleasurable view for over chargd feelings)

विरेचन के अनुसार त्रासदी की कटुता का दंश नष्ट हो जाता है, उत्तेजना समाप्त होकर मनःशक्ति प्राप्त होती है, क्योंकि त्रासदी में त्रास और करुणा साथ-साथ चलते हैं । हम पीड़ापरक स्थिति में पड़े व्यक्ति के प्रति करुणा अनुभव करने के साथ ही भय (त्रास) भी अनुभव करते हैं कि कहीं यह विपत्ति हम पर न आ जाये ।

विरेचन की दो स्थितियों करुणा और त्रास में से त्रास की स्थिति विरेचन सिद्धान्त और व्यवहार से थोड़ी भिन्न है, क्योंकि व्यावहारिक जीवन में हम अपने ऊपर आई विपत्तियों से ही पीड़ा का अनुभव करते हैं, जब कि दर्शक के रूप में हम पात्र की विपत्तियों को देखकर भी सम्भावित पीड़ा से

पीड़ित हो उठते हैं । इसे सहानुभूतिजनति कम्पन स्वीकार किया गया, जो उस पात्र की पीड़ा देखकर उभरता है, जिसका जीवन लगभग हमारे समान होता है ।

इस सहानुभूतिजनित कम्पन का आधार जहाँ भारतीय साधारणीकरण को स्पर्श करता है, वहीं प्रो. बूचर ने इस सम्बन्ध में दो धारणायें प्रस्तुत की हैं–

**(1) 'स्व' की क्षुद्रता से मुक्ति** – जब संकुचित 'स्व' अपने मूल रूप 'क्षुद्र' और 'कटु' का परित्याग करके विस्तृत, विशाल और उदात्त हो जाता है तो यह सहानुभूति की भावना से अधिक मात्रा में प्रेरित हो उठता है । नाटक के नायक की पीड़ा, खलनायक द्वारा उस दिये त्रास, अत्याचार आदि हमारे मन में करुणा, आक्रोश, उत्तेजना आदि के भाव जगाते हैं तो वहाँ स्व के विकास का रूप दिखाई देता है । हमारा संकुचित स्व विकसित होकर नायक के साथ तादात्म्य स्थापित करके उसके प्रति सहानुभूति जगा देता है वहीं 'सत्' के प्रति आस्था भी उभरती है कि 'असत्' सत् को पीड़ा पहुँचा रहा है । यह आस्था व्यक्ति के माध्यम से हमारे 'स्व' को समष्टिगत कर देती है ।

**(2) कलात्मक प्रक्रिया** – उनका तर्क है कि त्रासदी का कलात्मक रूप सुखद होता है । दुःख-सुख में बदल जाता है । इस संक्षिप्त विवरण से यह ध्वनित होता है कि उसमें 'मनः शान्ति' और 'विशदता' दो भाव तो निहित रहते ही हैं और ये दोनों भाव भी आनन्द की स्थिति के निकट हैं । इस प्रकार भारतीय रस सिद्धान्त के आनन्दवादी दृष्टिकोण से यदि विरेचन सिद्धान्त की कहीं समता ठहरती है तो भावों के परिष्कार के माध्यम से मनःशान्ति और विशदता के माध्यम से, क्योंकि यह विशदता का भाव भारतीय साधारणीकरण के निकट आ खड़ा होता है ।

**करुण रस और विरेचन** – विरेचन जिस त्रासदी को महत्त्व देता है, उसमें 'करुणा' और 'त्रास' दोनों की प्रधानता होती है । ये मूलतः दुःख मनोवेग के आवेग ही हैं, जिनमें पीड़ा की अनुभूति की प्रधानता भी हैं 'करुण' रस का स्थायीभाव 'शोक' है । इस शोक में करुणा की भावना तो रहती है और वध

आदि के कारण उत्पन्न शोक त्रास भी उत्पन्न करता है। नाट्यशास्त्र के अनुसार शोक से तात्पर्य है–शोक नाम का भाव इष्ट वियोग, विभवनाश, वध, क़ैद तथा दुखानुभूति आदि विभावों से उत्पन्न होता हैं अतः करुण रस में शोक और करुणा का भाव दोनों रहते हैं। इस दृष्टि से इन दोनों में समता स्वीकार की जी सकती है।

अस्तु, अरस्तू ने जिस युग के लिये ये सिद्धान्त प्रस्तुत किये थे, उस युग के लिये ये ठीक थे, किन्तु आज इन्हें ज्यों का त्यों स्वीकार करना कठिन है। हमारे विचार से अरस्तू के विरेचन के स्थान पर अभिव्यक्ति को रखना आधुनिक मान्यताओं के अधिक अनुकूल होगा।

**3. अरस्तु के अनुकृति-सिद्धान्त (अनुकरण-सिद्धान्त) की मीमांसा कीजिए।**

**अथवा**

**अनुकरण के अरस्तू का अभिप्राय क्या था और परवर्ती विद्वानों ने उस का क्या अर्थ लगाया? इसे स्पष्ट करते हुए अरस्तू के अनुकरण सिद्धान्त की विवेचना करे।**

उत्तर – अरस्तू के पाश्चात्य काव्य क्षेत्र में सर्वप्रथम आलोचक की उपाधि से विभूषित किया गया है। यद्यपि अरस्तू का रूप प्लेटो का था किन्तु दोनों के विचारों में पर्याप्त भिन्नता थी। इस सिद्धान्त की विस्तृत व्याख्या सर्वप्रथम प्लेटो ने अपनी पुस्तक 'The Republic' में की थी। अरस्तू के बिखरे हुए विचार ही परवर्ती चिन्तकों के लिये उत्तेजक और प्रेरणादायक सिद्ध हुए। अरस्तू ने काव्य को समस्त जीवन के संदर्भ में देखा है। उनकी दृष्टि में काव्य किसी विशेष प्रकार की जीवन प्रणाली या राज्य प्रणाली का पोषक नहीं है। अपितु काव्य अपनी स्वतंत्र सत्ता रखता है। वह अपनी स्वतंत्र सत्ता बनाकर ही साहित्य का उपयोगी अंग हो सकता है।

**मुख्य कृतियाँ –**

अरस्तू ने लगभग 400 ग्रंथों का सृजन किया जिनमें से मुख्य अग्रलिखित हैं–(1) राजनीति शास्त्र, (2) काव्य शास्त्र, (3) भाषा शास्त्र,

(4) तर्क शास्त्र,(5) भौतिक शास्त्र, (6) आचार शास्त्र, (7) ज्योतिर्विज्ञान, (8) मनोविज्ञान शास्त्र आदि ।

**1. अनुकरण सिद्धान्त की व्याख्या** –

काव्य की आत्मा पर विचार करे हुए अरस्तू ने अनुकरण सिद्धान्त को काव्य की आत्मा माना । अनुकरण शब्द यूनानी शब्द 'Mimesis' का पर्यायवाची है और हिन्दी में अंग्रेज़ी शब्द Imitation से रूपांतरित होकर आया ।

अरस्तू ने अपनी पुस्तक Politics में लिखा है–

**प्रत्येक वस्तु पूर्ण विकसित होने पर जो होती है उसे ही हम उसकी प्रकृति कहते हैं ।**

इसी प्रकार में वे लिखते हैं कि कोई वस्तु क्या है उसे अपेक्षाकृत सही रूप में तभी कह सकते हैं जब उसे पूर्णता प्राप्त कर ली हो ।

इस प्रकार अरस्तू ने काव्यकला को सौन्दर्यवादी दृष्टि से देखा और उसे दार्शनिक राजनीतिक तथा नीतिशास्त्र से मुक्तकर दिया । अरस्तू कला को प्रकृति की अनुकृति मानते हैं । अतः उन्होंने सत्य ही लिखा है–

Art imitates Nature

इसमें तनिक भी संदेह नहीं कि भारतीय काव्यशास्त्र के विद्वानों के लिये अनुकरण शब्द नया नहीं 'भरतमुनि' ने नाट्यशात्र में नाटक को लोक स्वभाव वृत्त या लोकवृत्त का अनुकरण माना है । स्वभाव और व्रत के अंतर्गत वेशभूषा, खानपानकार्य, व्यापार रहनसहन होता है आदि सभी का अंतरभाव होता है किन्तु यहाँ अनुकरण का अभिप्राय है–

**कवि द्वारा अपनी रचना में लोक स्वभाव वृत्त के रंगमंग पर अभिनय करना ।**

इससे स्पष्ट हो जाता है कि अरस्तू ने अनुकरण शब्द का प्रयोग कविकार्य के लिए किया है अभिनेता के कर्म के लिये इस शब्द का प्रयोग किया ।

अरस्तू के अनुसार अनुकृति से आनन्द की प्राप्ति होती है क्योंकि

सहानुभूति के बिना अनुकर्ता संप्रेषण कर सकता है अर्थात् दूसरे शब्दों में यह कहा जा सकता है कि अरस्तू प्रकारान्तर से अनुकरण की क्रिया और प्रतिक्रिया दोनों में आनन्द की स्थिति मानते हैं। साधारणतः अरस्तू के अनुकरण सिद्धान्त का संक्षिप्त परिचय अधोलिखित पंक्तियों में प्रस्तुत किया जाता है–

**(1) अनुकरण का विषय** – अनुकरण का विषय प्रकृति या जीवन का बाहरी रूप ही नहीं अपितु उसका आंतरिक रूप अर्थात् अनुभूति विचार कल्पना आदि भी हैं काव्य केवल मानव के बाहरी प्रत्यक्ष रूप का अनुकरण ही नहीं करता वरन् उसके तल में छिपे हुए सूक्ष्म तल की भी उमड़कर बाहर आ जाता है कवि अनुकरण द्वारा प्रत्यक्ष को परोक्ष में मिला देता है।

**अनुकरण और सर्जन प्रक्रिया** – कलाकार वस्तु को ऐसा रूप देता है, जिससे उसके सर्वमान्य और आदर्श दोनों रूपों का स्पष्ट बोध होता हो। यह कार्य अनुकरण की सर्जन प्रक्रिया के आधार पर ही होता है, क्योंकि काव्य मात्र अनुकृति नहीं सर्जन भी है।

एबरक्राम्बी के अनुसार अरस्तू ने कविता में अनुकरण का वही अर्थ ग्रहण किया जो अर्थ आजकल हम तन्त्र या शिल्प का मानते हैं।

अरस्तू के अनुसार यह सर्जन की प्रक्रिया तीन स्तरों पर सम्पन्न हो सकती है– (1) जो चीजें जैसी हैं, उन्हें वैसा ही दिखाया जाये। (2) जैसी वे लगती हैं या कही जाती है, उन्हें वैसा दिखाया जाये, (3) जैसी वे होनी चाहिए, उन्हें वैसा दिखाया जाये। अतः स्पष्ट हे कि पहले स्तर का सम्बन्ध सीधा अनुकरण से है, पर दो स्तरों पर सर्जन का भाव विद्यमान है। अतः अरस्तू अनुकरण के सर्जनात्मक रूप के पक्षधर है, मात्र नकल के नहीं।

**(2) तीन रूपों का अनुकरण** –

(1) संभाव्य रूप – इसका अर्थ है कि जैसी वे वस्तुएं हैं या जैसी वे हो सकती है।

(2) यथार्थ रूप – इसका तात्पर्य है जैसी वे कही या समझी जाती है।

(3) आदर्श रूप – इसका भाव है जैसी वे होनी चाहिये।

**3. इतिहास व काव्य** – इतिहास और काव्य में अंतर होता है । इतिहास घटित का चित्रण करता है जबकि काव्य संभाव्य का काव्य में गंभीर दार्शनिकता होती है । इसके विषय में अरस्तू ने सत्य ही कहा है–

A likely impossibility is always proferable to an unconvincing possiblity.

**4. आनन्द प्राप्ति** – काव्य प्राप्ति – काव्य की अनुकृति की अंतिम परिणति आनंद है । इसलिये अरस्तू ने अपने श्रीमुख से मुखरित किया है–

जिन वस्तुओं का प्रत्यक्ष दर्शन हमें दुःख देता है । उनका अनुकरण प्रस्तुत रूप में हमें आनन्द प्रदान करता हैं डरावने जानवर को देखने से हमें भय और दुःख होता है परन्तु उसका अनुकृत रूप हमें आनन्द प्रदान करता हैं क्या यह आनन्द हू-बहू नकल की गई कृति में होगा इसका उत्तर निषेधात्मक होगा । इस प्रकार अनुकरण में आनन्दतत्त्व वास्तव में आत्मतत्त्व का प्रकाशन होता है ।

**5. विधि** – अनुकृति का विषय विधि या माध्यम से होता है । इसलिये माध्यम की चर्चा करते हुये अरस्तू स्वयं लिखते हैं–

एक ओर कला है जिसके अनुकरण का साधन केवल भाषा होती है । यह भाषा गद्य हो या पद्य । पद्य में भी चाहे अनेक छंदों का प्रयोग किया गया हो या एक ही ज्ञय राग छंद सभी का ।

**2. मुख्य व्याख्याकार** – अरस्तू के काव्यशास्त्र के मुख्य व्याख्याकारों का संक्षिप्त परिचय अग्रलिखित है–

1. वुचर – उनके मतानुसार अनुकृति का अर्थ है सादृश्य विधान या मूल का पुनरुत्पादन ।

2. मिल्बर्ट् मरे – इनके अनुसार इसका भाव है सृजन ।

3. पाट्स – इन्होंने मतानुसार इसका अर्थ है–अनुभूति की पुनः सृजना ।

4. स्कॉट जैम्स – इनके अनुसार इसका अभिप्राय है कलात्मक पुनर्निमाण ।

इस प्रकार प्रत्येक व्याख्याकार अपनी-अपनी शब्दावली में इसका प्रयोग करता है । इस प्रकार अरस्तू इसको नये अर्थों में प्रयुक्त करता है

**3. आलोचना** – इसका क्रोचे ने सहानुभूति सिद्धान्त से स्पष्ट विरोध किया है । क्रोचे के मतानुसार कला वस्तुतः भावरूप न होकर ज्ञान रूप है । सहज अनुभूति है जो अभिव्यक्ति से भिन्न है ।

इस प्रकार कला का विषय नहीं हो सकता । आज साहित्य में जिस सत्यं, शिवं सुन्दरं को प्रश्रय प्राप्त है वह वास्तव में सर्वप्रथम अरस्तू की देन है । आचार्य शुक्ल जी ने इसके विषय में लिखा है–

इधर कुछ दिनों से सत्यं, शिवं, सुन्दरं की बड़ी धूम है जिसे शायद उपनिषद् वाक्य समझकर अपने यहाँ भी कहा है ''लिखकर उद्धृत किया जाता है । यह कोमल पदावली ब्रह्मसमाज के महर्षि देवेन्द्र नाथ ठाकुर की है और वास्तव में The True, The Good and The beautiful का अनुवाद है ।

**4. प्रभाव** – यथार्थ या आधुनिक साहित्य के चिन्तन से स्पष्ट है कि काव्य में अनुकरण का महत्त्व है । अमरीकन लेखक J.C. Ronijon ने यह दिखाया है कि भौतिक तत्त्व और मूल विचार और दोनों के योग से कविता उत्पन्न होती है और फलती फूलती है । प्लेटो के द्वारा प्रतिपादित काव्य व सत्य की दूरी को अनुकरण सिद्धान्त ने घटाकर ही थोड़ा सा भेद रहने दिया । इसको आज के विद्वान् या विचारक भी स्वीकार करते हैं ।

भारतीय काव्य शास्त्र में अनुकरण अपना विशेष महत्त्व रखता है । अरस्तू जहाँ काव्य को प्रकृति का अनुकरण मानकर चले हैं, वहाँ भारतीय आचार्य उसे आत्मा का उन्मेष मानते हैं ।

डॉ. नगेन्द्र ने इसके विषय में आपत्ति उठाई है उनका विचार है–

**अपने संपूर्ण विवेचन में अरस्तू का दृष्टिकोण इसी कारण अभावात्मक रहा है और त्रास व करुणा का विवेचन उसकी चरम सिद्धि रही है ।**

–अरस्तू का काव्यशास्त्र

वस्तुतः अरस्तू अभिजातीयवादी विचारक थे। अनुकरण सिद्धान्त को माध्यम से उन्होंने काव्य के संरचनात्मक पक्ष पर बल दिया है। कई आलोचकों ने भी अपने ढंग से इसी पक्ष पर जोर दिया है। अरस्तू की त्रास्दी में कथानक का सर्वाधिक महत्त्व है। इससे भी स्पष्ट हो जाता है कि काव्य के रचनापक्ष को बहुत अधिक महत्त्व दिया गया। अनुकृति सिद्धान्त के साथ पूरा न्याय करने के लिये इसे classical Refernece संरचना की दृष्टि से चित्रित करना आवश्यक है। वस्तुतः अरस्तू का सिद्धान्त प्रगीतकाव्य की अपेक्षा नाटक साहित्य पर अधिक लागू होता है और उनका वास्तविक दृष्टिकोण इसी के प्रति था।

इसमें संदेह नहीं कि अनुकरण मानव की प्रमुख प्रवृत्ति है किन्तु काव्य उद्‌भव का मूलभूत कारण अनुकरणवृत्ति नहीं हैं साहित्य का उद्देश्य आत्माभिव्यक्ति है। इस अभिव्यक्ति में साहित्यकार आनंदानुभूति करता है। अभिव्यक्ति के अभाव में उसे एक घुटन सी अनुभव होती है। अपने को अभिव्यक्त करने पर वह असीम आनन्द का अनुभव करता है। अतः उसका आनन्दवादी दृष्टिकोण सबसे अधिक प्रधान है। साहित्य के अध्ययन, मनन, पठन से भी हमें उसी आनन्दावस्था को प्राप्त करते हैं जिस आनन्दावसीा का अनुभव रचयिता करता है।

इस प्रकार हम देखते हैं कि सिसरो, होरेस, स्केलीगर पोप आदि यूनानी कवियों ने इस सिद्धान्त पर बल दिया। परन्तु आज कविता के क्षेत्र में इसका महत्त्व कम हो गया है और आज कल्पना को अधिक महत्त्व दिया जाता है। डॉ. नगेन्द्र ने भी कहा है–

**यह सिद्ध है कि अनुकरण का अर्थ यथार्थ प्रत्यांकन मात्र नहीं है, वह पुनः सृजन का पर्याय भी है और उसमें भाव तथा कल्पना का यथोष्ट अन्तर्भाव है। उसमें सर्जना और सर्जना के आनन्द की अस्वीकृति कदापि नहीं है।**

**4. लोंजाइनस के उदात्त तत्त्व सिद्धान्त की आलोचना कीजिए।**

उत्तर – यूनान के साहित्य चिन्तकों की परम्परा में लोंजाइनस का गौरवपूर्ण स्थान है। उनकी कृति का नाम है– On the sublime.

अब प्रश्न उठता है कि औदात्य क्या है? इसका समाधान करते हुए लोंजाइनस ने अनेक बातें कही है–

1. औदात्य अभिव्यक्ति उच्चता एवं उत्कृष्टता का नाम है। उन्होंने लिखा है–

**अभिव्यक्ति की विशिष्टता और उत्कर्ष है, औदात्य है।**

2. अभिव्यक्ति की यह उच्चता श्रोता के तर्क का समाधान नहीं, वरन् उसे पूर्णतः अभिभूत कर लेती है।

3. किसी वस्तु पर विश्वास करे या नहीं, यह अपनेवश में है, परन्तु औदात्य अपनी प्रबल एवं दुर्निवार शक्ति के कारण प्रत्येक पाठक को अनायास ही बहा ले जाता है।

4. किसी भी सर्जना के शिल्प, उसकी सुस्पष्ट व्याख्या और तथ्यों के प्रस्तुतीकरण के गुणों का ज्ञान उसके एक या दो अंशों से नहीं, अपितु सम्पूर्ण रचना के शिल्पविधान से धीरे-धीरे होता है, जबकि उदात विचार यदि अवसर के अनुकूल हो तो एकाएक विद्युत् की भाँति चमत्कार सारी विषयवस्तु को प्रकाशित करवा देता है।

**2. औदात्य का मूल आधार** – औदात्य का मूल आधार कथ्य है? क्या वह वक्ता या लेखक की जन्मजात प्रतिभा पर भी आधारित होता है या उसका प्रस्फुटन शिक्षा-दीक्षा से किया जासकता है? वह सहज या अभ्यास पर निर्भर है? इन प्रश्नों पर विचार करते हुए लोंजाइनस ने मध्य मार्ग का अनुसरण किया है। उसके विचार से औदात्य न तो सर्वथा प्रतिभा सापेक्ष है और न ही पूर्णतः अभ्यास सापेक्ष्य है। जिस प्रकार मूल प्रेरक शक्ति प्रतिभा को मानते हुए भी यह स्वीकार करते हैं कि नियमों के ज्ञान एवं अभ्यास के द्वारा प्रतिभा ज्ञान का नियमन अपेक्षित है। जिस प्रकार मूल भावों को यदि सर्वथा स्वतन्त्र छोड़ दिया जाये तो वे व्यक्ति को भटका कर सर्वनाश की ओर ले जा सकते हैं। अतः उन पर बुद्धि का नियंत्रण अपेक्षित है, उसी प्रकार औदात्य के लिये भी प्रतिभा के साथ शिक्षा का समन्वय अपेक्षित है। परन्तु इसका यह भी तात्पर्य नहीं है कि अलंकारों या शब्दाडम्बर के ज्ञान से औदात्य की उपलब्धि

हो सकती है । वस्तुतः औदात्य का आधार व्यक्ति का कोई एक पक्ष एक गुण है अपितु इसके पीछे सारे व्यक्तित्व की झलक होती है । केवल प्रतिभाशाली व्यक्ति चारित्रिक दृष्टि से हलका छिछारा हो सकता है । उसकी वासनाएँ व प्रवृतियाँ क्षुद्र भी हो सकती है—ऐसी स्थिति में उससे औदात्य की आशा कैसे की जा सकती है । इसी प्रकार एक विद्वान् महान् शास्त्रों का ज्ञाता होते हुए भी स्वार्थी व दंभी हो सकता है । अतः उससे भी औदात्य सर्जना संभव नहीं । वस्तुतः औदात्य का सृष्टा तो उदात व्यक्तित्व ही हो सकता है । एक महान् विद्वान् व चरित्रवान् व्यक्ति ही उदात्तवर्ग उद्घोसक हो सकता है ।

**लोंजइनस के शब्दों में –**

> **औदात्य आत्मा की महानता का प्रतिबिम्ब है । सच्च औदात्य केवल उन्हीं को प्राप्य है जिनके तुच्छ व संकीर्ण विचारों के अनुसरण में व्यतीत होता है । वे शायद कभी भी मानवता के लिये कोई स्थायी महत्त्व की रचना प्रस्तुत करने में सफल नहीं होते । यह सर्वथा स्वाभाविक है कि जिनके मस्तिष्क उदात्त धारणाओं से परिपूर्ण है, उन्हीं की वाणी से उदात्त शब्द झंकृत हो सकते हैं ।**

इस प्रकार औदात्य का सम्बन्ध केवल प्रतिभा केवल अध्ययन और केवल भाषाभ्यास से नहीं, अपितु व्यक्ति के समूचे व्यक्तित्व से है ।

**3. औदात्य के 5 स्रोत** –

**(1) उदात्त विचार** – काव्यगत औदात्य के स्रोतों के अंतर्गत सर्वप्रथम उदात विचार को लिया गया है । यही उदात व्यक्तित्व का प्रतिबिम्ब होता है । अतः इसे सर्वोच्च स्थान दिया गया है । व्यक्ति में औदात्य नैसर्गिक ही होता है, परन्तु फिर भी शिक्षा दीक्षा एवं संस्कारों से उसका सम्यर्क विकास सम्भव है ।

**2. भावों का उदात्त रूप में चित्रण** – काव्यगत औदात्य का दूसरा स्रोत उदातभावों का चित्रण है । लोंजाइनस से पूर्व कई लेखकों ने या तो भाव और औदात्य की पृथकता को स्वीकार नहीं किया या फिर उन्होंने भावावेग को औदात्य में बाधक माना है । परन्तु लोंजाइनस ने इस मत का तीव्र रूप से

खंडन करते हुए भावावेग को औदात्य का सहायक माना है ।

**3. अलंकार नियोजन** – औदात्य का तीसरा स्रोत अलंकारों का नियोजन है । अलंकारों के संबंध में लोंजाइनस का विचार है कि इनके सम्यक् प्रयोग से औदात्य की सिद्धि में पर्याप्त सहायता मिलती है । लोंजाइनस के अनुसार अलंकारों का प्रयोग इस ढंग से होना चाहिए कि श्रोता या पाठक को उनके प्रयोग का पता न चला ।

**4. उत्कृष्ट भाषा** – औदात्य का चौथा उत्कृष्ट भाषा है । यह तथ्य है कि उपयुक्त एवं प्रभावोत्पादक शब्दावली श्रोता को आकर्षित करती हुई उसे भावाभिभूत कर लेती है । ऐसी शब्दावली जिसमें भव्यता, सौन्दर्य, मार्दव, गरिमा, ओज, शक्ति आदि श्रेष्ठ गुणों की अभिव्यक्ति हो, प्रत्येक वक्ता या लेखक के लिये स्पृहनीय है । वस्तुतः भाषा के विभिन्न गुणों की उपयोगिता औदात्य की सृष्टि में है–यदि उसके ये गुण इस लक्ष्य की पूर्ति करते हैं तो स्वीकार्य है, अन्यथा नहीं ।

**5. गरिमामय रचना-विधान–** औदात का पाँचवाँ स्रोत गरिमामय रचनाविधान है । इसके अन्तर्गत सर्वप्रथम सामंजस्य को स्थान दिया गया है । सामंजस्य का एक प्रकार शब्दों को विशेष क्रम में व्यवस्थित करना है । सामंजस्य में एक प्रकार शब्दों का विशेष क्रम में व्यवस्थित करना है । सामंजस्य में एक ऐसी शक्ति होती है जिसमें कि वह न केवल श्रोता को प्रसन्नता प्रदान करता है अपितु एक सीमा तक वह उसे द्रवित करके वहाँ भी ले जाता है । बाँसुरी की मधुर तान की भाँति रचना का सामंजस्य भी हमारे मन में विभिन्न भावों को उद्वेलित करता हुआ औदित्य की अनुभूति प्रदान करता है । विभिन्न छंदों का आविष्कार सामंजस्य की स्थापना के लिये ही हुआ है ।

उद्याम आवेग से तात्पर्य भाव के आवेगों की तीव्रता, पवित्रता, सत्यता और शक्ति होनी चाहिए । ये गुण पाठक को सहसा सम्मोहित कर लेते हैं । लोंजाइनस की धारणा है–

**मैं यह बात पूरे विश्वास के साथ कह सकता हूँ कि जो आवेग उन्माद, उत्साह के साथ फूट पड़ता है और एक प्रकार से वक्ता के शब्दों को विक्षेप से परिपूर्ण कर देता है, उसके यथास्थान व्यक्त होने से स्वर में जैसा औदात्य आता है, वह अन्यत्र दुर्लभ है ।**

**4. औदात्य के बाधक तत्त्व** – औदात्य के साधक तत्त्वों की भाँति उसके बाधक तत्त्व भी हैं जिन्हें दोष कहा जा सकता है । इसके अन्तर्गत मुख्यतः भाषा की अव्यवस्था, प्रवाह-शून्यता विषय से अधिक लय की प्रमुखता, उक्ति की अत्यधिक संक्षिप्तता, अस्पष्टता आडम्बरपूर्ण शैली अनुचित विचार, अभिव्यक्ति की क्षुद्रता, ग्राम्यपदों का प्रयोग , कर्णकटुभाषा, विषयानुकूल शब्दावली का अभाव आदि दोषों को लिया गया है । इन दोषों से रचना का प्रभाव नष्ट हो जाता है ।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि लोंजाइनस सुन्दरता पर विशेष बल देते थे और उन्होंने काव्य में आनंदवाद की खोजने की चेष्टा की है तथा इसी आकार पर उन्होंने काव्य की उत्कृष्टता को आंका है । अतः एटकिन्स के शब्दों में कहा जा सकता है–

**There are things in its pages that can never good old, while its freshness and light will continue to dream all ages.**

**5. होरेस के औचित्य सिद्धान्त की विवेचना करें ।**

**या**

**होरेस की काव्य सम्बन्धी मान्यताओं की विवेचना कीजिए ।**

उत्तर – होरेस का युग राजनीतिक उथल-पुथल का युग था । राजनीति ने जनजीवन और साहित्य क्षेत्र दोनों में प्रवेश कर काव्य आदर्शों को बदल दिया था । स्वयं होरेस के अनुसार उसके युग में काव्यकला का पर्याप्त ह्रास हो चुका था । औदित्य कविगण कला नियमों से अनभिज्ञ थे और निम्नकोटि के आदर्शों का अनुकरण कर रहे थे । कला के क्षेत्र में गम्भीरता का स्थान छिछलेपन ने ले लिया था । अतः होरेस ने समसामयिक साहित्य को सुधारने

और उसका मार्गदर्शन करने का बीड़ा उठाया। होरेस रोमन सभ्यता एवं संस्कृति के स्वर्ण युग के महान् लेखक हुए हैं।

उनकी मुख्य रचनाएं ये हैं– काव्यकला, फलोरंस के प्रति काव्यपत्र, अगस्टस के प्रति काव्य पत्र, काव्य प्रयोजन–आनन्दानुभूति सत्यं शिवं सुन्दरं प्रतिष्ठा अविद्या का नाश।

उनके औचित्य सिद्धान्त का संक्षिप्त परिचय अधोलिखित रेखाओं में रेखांकित किया जाता है–

**1. सत्य काव्य के लक्षण–**

होरेस के अनुसार कविता उदात होती है या द्वेषित। उत्कृष्ट काव्य के लिये वह सजग विवेक शक्ति एवं सही चिन्तन को आवश्यक मानते थे। उनका कथन है–

The secret of all good writing is sound judgement

इसके अतिरिक्त होरेस ने लिख कि कवि को हस्तलिखित कृति व वर्षों तक प्रकाशित नहीं करनी चाहिए। किसी महान् आलोचक से उसका आलोचना करवानी चाहिये तथा स्वयं निर्लिप्त भाव से उसकी परीक्षा करें। इस प्रकार जब रचना में संभव दोनों का परिमार्जन हो तो उस रचना को प्रकाशित करना चाहिये।

उनके अनुसार सत्काव्य का लक्ष्य राष्ट्र की संस्कृति को अक्षुण्ण रखना और समाज को बर्बरता से मुक्त करना हैं उसे भव्य समाज की नींव डालना है। वीर हृदयों में शौर्य का संचार करना और परिश्रांत व्यक्तियों को आह्लाद प्रदान करना है और इन सब कर्त्तव्यों की पूर्ति के लिये लोक का पूर्ण ज्ञान आवश्यक है व सत्यकाम में सत्यं शिवं सुन्दरं तीनों की प्रतिष्ठा देखना चाहते थे।

**2. औचित्य सिद्धान्त** – औचित्य से तात्पर्य है उचित व्यवहार व उचित आचरण काव्य के औचित्य से तात्पर्य है काव्यांगों की उचित योजना। इसके भाव रस अलंकार रीति आदि सब तत्त्वों का औचित्य निहित है। उनका विचार था कि रचना के विभिन्न अवयवों का पारस्परिक तथ्य पूरी कृति के

साथ ऐसा होना आवश्यक है । वे एक काव्य विषय के लिए एक काव्य-विधा स्वीकार करते हैं । उनका कहना हे कि यदि कोई विषय महाकाव्य के अनुकूल है तो उसे महाकाव्य द्वारा ही प्रस्तुत होना चाहिए । अतः साहित्य के प्रत्येक रूप की अपनी स्वतंत्र इकाई होती है और उसके स्वरूप की रक्षा अत्यंत आवश्यक है ।

होरेस का औचित्य का सिद्धान्त उनके ग्रंथ 'आर्ट्स पोयटिका' में आरम्भ से अन्त तक सम्पूर्ण काव्य-विवेचन के मूल में क्रियाशील रहा है । होरेस के सभी सिद्धान्तों का आधार यही सिद्धान्त है । होरेस का रचना एक्य या रचना में एकता विषयक सिद्धान्त इसी औचित्य पर निर्भर है । रचना की एकता में रचना की उपयोगिता और उसके विभिन्न अवयवों का पारस्परिक तथा पूरी रचना के साथ औचित्य से बंधे रहना होरेस की मान्यता थी ।

वे कहते हैं कि जिस प्रकार स्त्री के सिर पक्षी के शरीर और मछली की पूंछ वाला प्राणी अभिमान होने के कारण हमारी उपेक्षा और उपहास का विषय होगा ।

**3. विषय औचित्य** – होरेस ने परम्परागत सिद्धान्तों के संरक्षण पर बल दिया है । वे मानते हैं कि कविता अथवा नाटक की कथावस्तु परम्परागत होनी चाहिए और उसमें नवीन उद्‌भावनाओं का प्रयोग होना आवश्यक है । विषय कवि की सीमा एवं सामर्थ्य के अंतर्गत हों । परिचित कथानक में मौलिकता का समावेश यथार्थ के धरातल पर होना चाहिए ।

**4. चरित्र औचित्य** – होरेस के अनुसार विभिन्न पात्रों के गुण उनकी अवस्था से मेल खाते हों जैसे बालक को अपने साथियों के साथ खेलना, युवक को उत्साही, हठी, लापरवाह, प्रौढ़ को मित्रता, धन, यश की खोज में संलग्न और समझदार वृद्ध को कहल प्रिय, चिड़चिड़ा, कृपण, वहमी, चित्रित किया जाये । इस प्रकार प्रत्येक पात्र का चित्रण उसकी प्रकृति के अनुकूल हो तभी वह दर्शकों पर प्रभाव डाल सकता है ।

**5. घटना औचित्य** – मंच पर अभिनय देखकर हमारे पात्र घटना, प्रसंग आदि सजीव और साकार हो उठते हैं । इसी कारण नाटक की प्रभाव क्षमता

काव्य से अधिक होती है । लेखक का मत है कि कुछ घटनाएं ऐसी होती है जिनका रंगमंच पर अभिनय न तो श्लाघ्य है और न वांछनीय ही । उनकी अभिनीत देखकर प्रेक्षक के मन में जुगुप्सा, भय, अविश्वास आदि भाव उत्पन्न होते हैं । वे ऐसी घटनाओं रंगमंच पर दिखावे के विरुद्ध हैं ।

**6. अभिनय औचित्य** – अभिनय ऐसा होना चाहिए कि दर्श पर उसका अनुकूल प्रभाव पड़े । दर्शक उसमें तल्लीन हो जाए–न तो उनके और न ही उसकी खिल्ली उड़ाए । शोकग्रस्त व्यक्ति के मुख से दुःखपूर्ण क्रुद्ध व्यक्ति के मुख से दोषपूर्ण और प्रफुल्ल मन व्यक्ति के मुख से परिहासपूर्ण तथा गंभीर व्यक्ति के मुख से गंभीर शब्दों का प्रयोग हो । तात्पर्य यह है कि नाटक के संवाद एवं अभिनय दोनों जीवन की वास्तविकता से दूर न हो ।

**7. भाषा औचित्य** – काव्य का शरीर शब्दों से निर्मित होता है । ये शब्द ही कवि के अभिप्राय को व्यक्त करते हैं । अतः कवि को शब्दों के उपयुक्त चुनाव और रचना में उनके उचित विधान पर पूरा-पूरा ध्यान रखना चाहिए । मात्र प्रदर्शन के लिए आडम्बरपूर्ण शब्दों का प्रयोग उचित हीं क्योंकि ऐसे शब्द गठन ऐक्य में बाधक होते हैं । होरेस ने सत्य ही कहा है–

**यदि मुझे परम्परागत नियमों और काव्य रूपों का ज्ञान नहीं है और मैं उनका पालन नहीं कर सकता तो मुझे कवि कहलाने का क्या अधिकार है ।**

**8. शैली औचित्य** – होरेस शैली के औचित्य को भी काव्य के लिए अनिवार्य मानते हैं । एक ही प्रकार की शैली स्वयं उपयुक्त नहीं हो सकती । उसे विषयानुकूल प्रसंगानुकूल होना चाहिए । शैली में प्रसाद, ओज, माधुर्य गुणों से सम्पन्न होना आवश्यक है । उनके अनुसार नाटकीय एवं काव्यशैली में अलंकार भी विषयानुकूल ही होना चाहिए । इससे स्पष्टता रोचकता एवं प्रभावोत्पादकता बढ़ती है ।

**9. वृत्त औचित्य (छंद विधान औचित्य)** – लेखक ने विभिन्न प्रकार की काव्य वस्तुओं के लिये विभिन्न छंद विधान निर्धारित किये हैं । जैसे देवों की प्रार्थनाओं तथा प्रेम के लिये गीति छंद और दुःखपूर्ण विषय के लिये शोकगीत

आदि का विधान किया गया। उनकी त्रुटि यही है कि उन्होंने वृत्तों का औचित्य निर्धारित करते हुए केवल ग्रीक काव्य एवं परम्परा का ध्यान रखा।

**10. आलोचना–**

**(1) मौलिकता का अभाव** – औचित्य सिद्धान्त, स्वतंत्र और मौलिक नहीं क्योंकि यह प्राचीन ग्रीक साहित्य से उत्पन्न एवं प्रभावित है। परन्तु यह आरोप निराधार है। होरेस का दृष्टिकोण तत्कालीन साहित्य के प्रति सुधारवादी रहा है। अतः अभियक्ति के विषय में इतना ही कह देना उचित है कि अभिव्यक्ति स्वाभाविक एवं स्पष्ट है।

**(2) कलापक्ष पर जोर** – यह सिद्धान्त अंगी है क्योंकि इसमें काव्य के केवल कलापक्ष पर ही अधिक बल दिया गया है। परन्तु यह आक्षेप भी उचित नहीं है क्योंकि लेखक ने काव्य के अन्य विषय को भी स्पर्श चाहिये। उन्होंने कला के साथ प्रतिभा पर भी बल दिया।

अतः निष्कर्ष इतना ही कहना काफी होगा कि होरेस का महत्त्व आज ऐतिहासिक बनकर रह गया है क्योंकि उतने सौंदर्य व शास्त्रीय दृष्टिकोण को विशेष महत्त्व दिया अपितु काव्य के कलापक्ष पर भी विशेष बल दिया वे अरस्तू से पर्याप्त प्रवाहित है परन्तु वैसे विवेकशक्ति एवं गहराई उनमें नहीं फिर भी होरेस की देन को झुठलाया नहीं जा सकता। यहाँ तक कि आलोचकों ने अरस्तू को भी होरेस के माध्यम से देखा था। इसलिए होरेस ने अपने काल के काव्यविकास में एक अद्‌भुत एवं अद्वितीय देन प्रदार की होरेस को मार्ग दर्शक का पद प्रदान किया गया।

वस्तुतः किसी भी नवीन साहित्य के निर्माण का श्रेय उन्हें नहीं दिया जा सकता, क्योंकि उनके सभी साहित्यिक सिद्धान्त ग्रीक गुरुओं की अवधारणाओं पर आश्रित हैं। फिर भी विश्व मनीषा को उनकी देन कम नहीं है। काव्य प्रयोजन शिक्षा है अथवा सुख, यह ऐसा विवादग्रस्त प्रश्न था, जो

युगों से चला आ रहा था । होरेस ने दोनों के समन्वय को ही काव्यप्रयोजन घोषित करके युगों से चले आ रहे इस विवाद को समाप्त कर दिया । इस प्रकार उत्कृष्ट काव्य सृजन प्रतिभा प्रदत्त है या अभ्यास प्रदत्त, इस प्रश्न का हल भी उन्होंने समन्वयात्मक ढंग से किया और दोनों को ही काव्यसृजन का आवश्यक अंग माना । इस प्रकार होरेस मौलिक न होने पर भी माननीय है ।

**6. टी.एस. इलियट के काव्य-सिद्धान्तों की समीक्षा कीजिए ।**

**अथवा**

**कवि व्यक्ति की अभिव्यक्ति नहीं करता, केवल माध्यम होता है ।**

**इलियट के आलोचना सिद्धान्त का विवेचन करते हुये उक्त कथन के सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट कीजिए ।**

**अथवा**

**इलियट की परम्परा की परिकल्पना का उल्लेख कीजिए ।**

उत्तर – साहित्य एवं दर्शन के गहन अध्येता, कवि, नाटककार, नॉवल पुरुस्कार विजेता टी.एस. इलियट के नाम से सभी साहित्य प्रेम सुपरिचित है । इनकी मुख्य कृतियाँ हैं–

1. Selected Essays, 2. Selected Prose, 3. Selected Road, 4. The Waste Land, 5. Poetry and Drama, 6. The use of poetry and Use of criticism , 7. Tradition and Individual Talent आदि ।

अब इलिटल के काव्य सिद्धान्तों का संक्षिप्त परिचय अधोलिखित रेखाओं में रेखांकित किया जा सकता है–

**1. प्रौढिता सिद्धान्त** – इलियट ने अपने को क्लासिकवादी कहा है, अतः यह जानना आवश्यक है कि कलासिकवाद से उनका क्या अभिप्राय है? उनके अनुसार ''क्लासिक'' का अर्थ है परिपक्वता एवं प्रौढ़ता । क्लासिक साहित्य सृजन तभी हो सकता है जब सभ्यता, भाषा और साहित्य प्रौढ़ हो

और स्वयं कृतिकार का मस्तिष्क भी प्रौढ़ हो। इन तीनों गुणों को उन्होंने Mannars तथा Maturity of Language के नाम से पुकारा है। कवि को अतीत की पूरी जानकारी होनी चाहिये। वर्जिल इसलिये क्लासिक कवि के आदर्श है क्योंकि उन्होंने यूनानी सभ्यता के लैटिन पर पड़े प्रभाव को ठीक से हृदयंगम कर लिया था और उनके आलोक में साहित्य का नवीन विकास किया है। अतः भाषा का पराकाष्ठागत विकास तो क्लासिक कवि द्वारा ही उस समय होता है। जब मनुष्य में अतीत का बोध वर्तमान का विश्वास और भविष्य की कोई सजग शंका न हो। अतः उन्होंने लिखा है–

**पूर्ण क्लासिक कृति वह है जिसमें किसी मानव समाज की सम्पूर्ण शक्ति निहित हो।**

**2. परम्परा सिद्धान्त** – इलियट ने अपने को क्लासिकवादी कहा है, अतः यह जानना आवश्यक है कि क्लासिकवाद से उनका क्या अभिप्राय है? उनके अनुसार कलासिक का अर्थ है परिपक्वता एवं प्रौढ़ता। क्लासिक साहित्य सृजन तभी हो सकता है जब सभ्यता, भाषा और साहित्य प्रौढ़ हो और स्वयं कृतिकार का मस्तिष्क भी प्रौढ हौ। इन तीनों गुणों को उन्होंने Maturity of mind maturity of mannars तथा maturity of language के नाम से है। Selected Road में लिखा–

परम्परा अत्यन्त महत्त्वपूर्ण वस्तु है। परम्परा को छोड़ देने से हम वर्तमान को भी छोड़ बैठेंगे।

**परम्परा से तात्पर्य** – परम्परा से इलियट का तात्पर्य उन सभी स्वाभाविक कार्यों, रीति-रिवाजों (धार्मिक कृत्यों से लेकर नवागन्तुक को अभिवादन करने में स्वीकृत तरीकों तक) से है, जो एक स्थान में रहने वाले एक समुदाय के व्यक्तियों के रक्त-सम्बन्ध को व्यक्त करते हैं।

कवि को अतीत की पूरी जानकारी होनी चाहिए। वर्जिल इसलिये क्लासिक कवि के आदर्श है क्योंकि उन्होंने यूनानी सभ्यता के लैटिन पर पड़े प्रभाव को ठीक से हृदयंगम कर लिया था और उनके आलोक में साहित्य का

नवीन विकास किया है । अतः भाषा का पराकाष्ठागत विकास तो क्लासिक कवि द्वारा ही उस समय होता है जब मनुष्य में अतीत की कोई सजग शंका न हो । अतः उन्होंने लिखा है–

**पूर्ण क्लासिक कृति वह है जिसमें किसी मानव समाज की सम्पूर्ण शक्ति निहित है ।**

**3. परम्परा सिद्धान्त** – रचनाकार के प्रस्तुत सिद्धान्त ने समूचे साहित्यिक जगत् के चकित कर दिया । इसका प्रतिपादन उन्होंने Tradition and Individual Talent नामक निबंध में किया । इलियट ने इतिहास बोध को प्रतिष्ठित किया है तथा कवि के व्यक्तित्व को परम्परा की अभिव्यक्ति का माध्यम माना हैं इस प्रकार काव्य में सब से अधिक महत्त्वपूर्ण तत्त्व है । परम्परा और उन्होंने इसकी विस्तृत व्याख्या की है । लेखक के अनुसार परम्परा अत्यंत महत्त्वपूर्ण वस्तु है ।

आफ्टर स्ट्रेंज गॉड्स में उसने लिखा है–

**परम्परा से मेरा तात्पर्य उन सभी सामाजिक कार्यों, रीति-रिवाजों अर्थात् धार्मिक कृत्यों से लेकर नवागन्तुक को अभिवादन करने के स्वीकृत तरीकों तक से है जो एक स्थान में रहने वाले एक समुदाय के व्यक्तियों के रक्त सम्बन्धों को व्यक्त करते हैं ।**

अतः परम्परा को प्राप्त करने के लिये परिश्रम करना पड़ता है । यह संस्कारगत उपलब्धि नहीं है । कलाकार की महत्ता उसका अपना व्यक्तित्व तथा अस्तित्व नहीं है । परम्परा से सम्बद्धता ही उसकी महानता है । किसी कवि को समझने के लिये अथवा उसकी कृतियों का मूल्यांकन करने के लिये हमें परम्परा का ज्ञान होना चाहिए, तभी उचित मूल्यांकन हो सकेगा । अतीत को कवियों अथवा कृतियों की तुलना में ही वर्तमान कवि अथवा कृति का मूल्य निर्धारित किया जा सकता है । वर्तमान के परिवेश को प्रकार नवीन रूप में प्रस्तुत होता है । अतीत कभी मरता नहीं अपितु वह वर्तमान में सदा जीवित रहता है । वस्तुतः ये दोनों एक दूसरे के पूरक है । इनको पृथक् करने का अर्थ

है परम्परा का सर्वनाश परम्परा मानव जीवन की महत्त्वपूर्ण विरासत है । अतः इसका ध्यान रखना परमावश्यक है परन्तु अंधानुकरण आवश्यक नहीं ।

**3. निवैर्यक्तिकता सिद्धान्त** – इसका भाव यह है कि काव्य में व्यक्तित्व की छाप का अभाव हो । उसमें व्यक्तित्व की छायामात्र तो ही सकती है । परन्तु व्यक्ति का बहुल्य न हो । अतः लेखक काव्य की परिभाषा इस प्रकार की है–

**It is not an expression of personality but an excape from personality.**

अतः कलाकार की प्रगति उसके व्यक्तित्व को त्यागने में है । कविता भावों से पलायन है । यह व्यक्तित्व की अभिवयक्ति नहीं अपितु व्यक्तित्व से पलायन है जैसे इलियट लिखते हैं–

**कवि व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नहीं करता है, वरन् वह विशिष्ट माध्यम मात्र है ।**

लेखक ने अपने ''आध्यात्मवादी कवि'' कवि शीर्षक निबंध में 'असिश्लिष्ट सूक्ष्मबोध का प्रतिपादन किया । इसका तात्पर्य यह है कि कवि को अपने विषय का अतिसूक्ष्म ज्ञान उपलब्ध हो ।

**4. वस्तुनिष्ठ समीकरण सिद्धान्त** – इसके अनुसार कवि को पूर्णतः अपनी भावनाओं एवं उद्‌गारों के विषय के अनुसार व्यक्त करना पड़ता हैं इसलिये उसे कोई वस्तु, कोई घटना या घटनाक्रम ढूंढता पड़ता है ।

वस्तुत वे स्वच्छंदतावादी सिद्धान्तों के विरोध में अभिजात्यवादी सिद्धान्तों को लेकर आये । स्वच्छन्दतावादी कवियों और आलोचनों ने काव्य को आत्माभिव्यक्ति माना था । आत्मा का तात्पर्य है वैयक्तिक्ता, अभिव्यक्ति का अर्थ है स्वतः सम्पूर्ण अभिव्यंजना । काव्य के नियम कवियों की आकांक्षाओं और संवेदनाओं से निर्धारित होते हैं । अभिजात्यवादी कविताओं के ह्रासोन्मुखी हो जाने के बाद कुछ दिनों तक स्वछंदवादी कवि में नवीनता और ताजगी दिखायी पड़ी । लेकिन बाद में उनका संवेग कर्म हो गया । इलियट ने स्वच्छतावादी काव्य की दृष्टि के विरुद्ध विद्रोह किया । उनके

विचार से आंतरिक ज्योति अत्यंत अविश्वनीय और धोखेबाज मार्गदर्शक है अपने Function of criticism नामक निबंध में भी वह आंतरिक आवाज़ को पुराना सिद्धान्त मानकर खारिज कर देते हैं । यदि आलोचक का लक्ष्य उन वस्तुनिष्ठ प्रतिमानों की खोज करना है जिनके आधार पर कला का मूल्यांकन किया जा सकता है तो कवि की आंतरिक आवाज़ को बहिष्कृत करना होगा ।

आलोचक का कर्त्तव्य है कि वह ऐसी वस्तुनिष्ठ सत्ता की खोज करे जो कवियों को परिपक्व कार्य निर्माण की प्रेरणा दे सके । इसके लिये आवश्यकता होगी कि कवि अपने व्यक्तित्व से दूर हटकर सार्वभौमिकता की अभिव्यक्ति करे । यह सिद्धान्त अत्यधिक प्रयोग आने लगा है । इसका प्रयोग उन्होंने Hamlet and his problem में किया । इनमें उन्हें पूर्ण सफलता मिली ।

**5. कविता के तीन स्वर** – इलियट ने अपने भाषण में काव्य के निम्नलिखित तीन स्वर माने हैं ।

1. पहले स्वर में कवि स्वयं से बातें करता है ।

2. दूसरे स्वर में वह श्रोताओं से नाते करता है ।

3. तीसरे स्वर में कवि पात्रों के माध्यम से नाटक में बोलता है ।

**6. काव्य भाषा** – इलियट मानते हैं कि कवि कर्म भाषा के माध्यम रहे होता है । इसी माध्यम से वह समाज की नवीन संवेदन शक्ति और भावानुभूतियों प्रदान करते हैं । इन नवीन अनुभूतियों को व्यक्त करने में लिये वह परम्परागत भाषा प्रदान करता है । उसे अपनी अनुभूतियों को व्यक्त करने के लिये वह परम्परगत भाषा से संघर्ष करता है । उत्तरदायित्वपूर्ण का यह कर्त्तव्य है कि वह अभिव्यंजना का नवीन साधन होगा और अर्थों को अर्थ समृद्ध बनाना होगा । अतः इस उत्तरदायित्व का निर्वाह करने के लिये कवि को कविता लिखने का अभ्यास करते रहना चाहिये । निरंतर शिष्य प्रयोग करते रहना चाहिये । उसके शब्दों में अस्पष्टता एवं अतिशयता का अभाव हो । आधुनिक युग में कविता गाने के लिये नहीं अपितु बोलने के लिये लिखी जाती है ।

निष्कर्षतः इलियट के अद्भुत व्यक्तित्व में कवि नाटककार सा सफल समीक्षक के सुन्दर समन्वय के दर्शन होते हैं । उन्होंने साहित्य को एक अद्भुत व अद्वितीय देन प्रधान की । यदि उन्होंने विश्व साहित्य में क्रांति देव से पुकारा जाये तो तनिक भी अतिशयोक्ति न होगी ।

**7. टी.एस. इलियट के वैयक्तिक पक्ष के सिद्धान्तों का उल्लेख कीजिए ।**

उत्तर – टी.एस. इलियट आरम्भ में कविता में कवि की निर्वैक्तिकता के विषय में अत्यन्त आग्रहपूर्ण रहे थे । इलियट से पूर्ववर्ती जो स्वच्छन्दतावादी आलोचक थे, उनकी धारणा थी कि कविता भावों का सहज उद्रेक (वृद्धि) है तथा व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति है । इसी को वैयक्तिक प्रज्ञा कहा जाता था । इसका तात्पर्य था कि कविता में कवि अपने व्यक्तिगत प्रज्ञा का वर्णन करता है । इलियट ने इस स्वर का विरोध किया तथा कविता को व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति की अपेक्षा व्यक्तित्व से पलायन माना । इलियट के अनुसार–

**कविता पूरी हो जाने पर कवि को एक असहनीय भार से मुक्ति मिल जाती है ।**

इस प्रकार कवि को धनात्मक आनन्द की अपेक्षा ऋणात्मक अथवा नकारात्मक आनन्द मिलता है ।

कविता के इस निर्वैयक्तिक प्रज्ञा के सिद्धान्त के अन्तर्गत कविता का जीवन स्वतन्त्र है तथा कविता उपयुक्त माध्यम पाकर अर्थात् कवि का मस्तिष्क पाकर स्वयं अभिव्यक्त होती है, स्वयं अवतरित हो जाती है । इस प्रकार कवि कविता लिखता नहीं है, अपितु कविता स्वयं कवि के माध्यम से कागज़ पर शब्द विधान से उतर आती हैं कविता उत्पन्न हो जाती की नहीं जाती है अर्थात् कवि कविता की रचना नहीं करता है । कविता में कवि की व्यक्तिगत प्रज्ञा नहीं होती है । दूसरी महत्त्वपूर्ण स्थिति है–कवि के व्यक्तित्व का कविता में सन्निवेश मानना । इस सिद्धान्त में भावों की महत्ता की अपेक्षा कला प्रक्रिया को महत्त्वपूर्ण माना गया है ।

**कविता में दबाव की उकटता का महत्त्व** – इलियट ने कहा है–

**वास्तविक जीवन के भावों की महत्ता और उत्कटता कविता में महत्त्वपूर्ण नहीं है, अपितु कला प्रक्रिया अर्थात् उस दबाव की वह उत्कटता महत्त्वपूर्ण है,**

**जिसके कारण मिश्रण तैयार होता है ।**

**इलियट की निर्वैयक्तिक धारणा भ्रान्तिपूर्ण** – कविता में वैयक्तिक नहीं, अपितु निर्वैयक्तिक प्रज्ञा का प्रयोग होता है, इस धारणा का दूसरे आलोचकों ने विरोध किया है । उन्होंने इलियट की इस धारणा को भ्रान्तिपूर्ण बताते हुए कहा है–

**इलियट ने स्वयं अपनी इस धारणा अर्थात् कविता में निर्वैयक्तिक प्रज्ञा के प्रयोग की मान्यता को अप्रौढ़ता का रूप बताया है ।**

कवि पीट्स की कविता की आलोचना के सन्दर्भ में इलियट ने अपनी निर्वैयक्तिकता की धारणा के विषय में कहा है–

**यह हो सकता है कि मैं अपनी बात ठीक से व्यक्त न कर सका था । उस विचार को मैंने अप्रौढ़ रूप से ग्रहण किया था ।**

इलियट ने अपने पूर्वमत का अर्थात् कविता में निर्वैयक्तिक प्रज्ञा के मत में सुधार करते हुए निर्वैयक्तिक प्रज्ञा के दो रूप माने हैं–

(1) वह जो कुशल शिल्पी के लिए प्राकृतिक होती है ।

(2) वह जो प्रौढ़ कलाकार के द्वारा अधिकाधिक उपलब्ध की जाती है ।

यह दूसरे प्रकार की निर्वैयक्तिकता उस प्रौढ कवि की होती है जो अपने उत्कट और व्यक्तिगत अनुभवों के माध्यम से सामान्य सत्य को व्यक्त करने में समर्थ होता है ।

इस दृष्टि से यह कहने की आवश्यकता नहीं है कि इलियट पहले तो कविता को कुशल शिल्प-विधान मात्र मानते थे, परन्तु बाद में निर्वैयक्तिकता का अर्थ प्रौढ कवि के निजी अनुभव की सामान्य अभिव्यक्ति मानने लगे थे । इलियट ने भावों की इस अभिव्यक्ति को सार्थकता प्रदान की है जो भाव सर्वसाधारण के बन जाते हैं । अतः कविता के सम्बन्ध में निर्वैयक्तिक प्रज्ञा का अर्थ होगा–कवि के भावों का सामन्यीकरण । यही भारतीय काव्यशास्त्र का साधारणीकरण है । कवि के अपने अनुभव कविता में व्यक्त होकर

सर्वसामान्य के हो जाते हैं ।

इलियट के निर्वैयक्तिक सिद्धान्त को व्यक्तित्व संस्पर्श से रहित नहीं किया जा सकता । इलियट ने अनेक प्रकार के अन्य संकेत दिये हैं, जिनसे यह सिद्ध होता है कि इनकी आरम्भिक मान्यता भले ही व्यक्तित्व सापेक्ष नहीं थी, परन्तु बाद में ये व्यक्तित्व सापेक्ष के प्रबल समर्थक हो गये थे । इसी को वैयक्तिक प्रज्ञा कह सकते हैं ।

**इलियट और वैयक्तिक प्रज्ञा** – कविता में वैयक्तिक प्रज्ञा अथवा कवि के व्यक्तिगत भावों के सम्बन्ध में इलियट का यह कथन उद्धृत किया जा सकता है–

> **मैं विश्वास करता हूँ कि कवि अपने पात्रों को अपना कुछ अंश अवश्य प्रदान करता है, किन्तु मैं यह भी विश्वास करता हूँ कि वह अपने निर्मित पात्रों के द्वारा स्वयं प्रभावित नहीं होता है ।**

कवि के व्यक्तित्व का महत्त्व ही आलोचना की भाषा में वैयक्तिक प्रज्ञा है । इससे स्पष्ट है कि आरम्भिक कविता में कवि की निर्वैयक्तिक प्रज्ञा का प्रबल समर्थक व आलोचक इलियट बाद में वैयक्तिक प्रज्ञा का पक्षधर हो गया था । यह बात अवश्य है कि कवि या साहित्यकार आपबीती को जगबीती बनाकर कहता है । यही कविता का साधारणीकरण है । कविता में व्यक्ति के भाव सभी पाठकों और श्रोताओं को अपने भाव प्रतीत होते हैं । तभी वे कविता का रसास्वादन कर पाते हैं । कविता में कवि के भाव या अनुभव होते तो व्यक्तिगत ही है, वह उन्हें इस रूप में व्यक्त करता है कि पाठकों और श्रोताओं को वे अपने भाव और अनुभव प्रतीत होते हैं । यही कवि की कुशलता और सफलता है ।

प्रज्ञा से एक अन्य तथ्य तथा समस्या का समाधान प्राप्त होता है कि आजकल प्रत्येक कवि किसी-न-किसी का समर्थक होता है और उसी का अपने काव्य में प्रचार-प्रसार वैयक्तिक रूप से करता है । इन मतों में कभी-कभी एक-दूसरे का रुचि-वैभिन्य के कारण विरोध भी रहता है । कोई कवि किसी बात का समर्थन करता है और कोई दूसरा कवि किसी दूसरे मत

की मान्यता प्रस्तुत करता है। इसके साथ ही समीक्षक को भी अपनी रुचि होती है। यदि किसी कवि के मत से समीक्षक की रुचि नहीं मिलती तो वह पनी रुचि-विशेष के कारण साहित्य का आकलन निष्पक्ष रूप से नहीं कर पाता और ऐसी स्थिति में खण्डन-मण्डन रूपी वैचारिक युद्ध-सा आरम्भ हो जायेगा। इस वैचारिक युद्ध से बचने के लिए इलियट ने कवियों को यह सुझाव दिया है कि वे अपने साहित्य में युगीन विचारों की कारयित्री प्रतिभा से समीक्षा भी प्रस्तुतकरें।

इस आधार पर माना जासकता है कि टी.एस. इलियट निर्वैयक्तिक प्रज्ञा का ही नहीं, वैयक्तिक प्रज्ञा का भी समर्थक था। वह यह स्वीकार करने पर विवश हो गया था कि वैयक्तिक प्रज्ञा के अभाव में साहित्य रचना सम्भव नहीं है। यदि कविता में वैयक्तिक प्रज्ञा का कोई योगदान नहीं है तो सभी कवियों की कविता एक समान क्यों नहीं होती। वैयक्तिक प्रज्ञा ही कविता की विविधता का कारण बनती है।

अब तो ये कला की निर्वैयक्तिकता को प्रौढ कवि के निजी अनुभवों की सामान्य अभिव्यक्ति मानते हैं। भारतीय आचार्यों के समान वे भी यह मानते हैं कि कवि अपने निजी भावों की अभिव्यक्ति कविता में करते हैं। इसी का नाम वैयक्तिक प्रज्ञा है। कवि अपने निजी भावों की अभिव्यक्ति इस रूप में करता है कि वे भाव उसके ही नहीं, सर्व-सामान्य के भाव बन जाते हैं। अतएव इलियट की निर्वैयक्तिकता का अर्थ हुआ—कवि के व्यक्तिगत भावों की विशिष्टता का सामान्यीकरण। कवि की अपनी तीव्र संवेदना और ग्रहणक्षमता से अन्य लोगों की अनुभूतियाँ उसकी निजी अनुभूतियाँ हो जाती हैं। जब वह अपने इन स्वभूत अर्थात् अपने बने हुए भावों को काव्य में व्यक्त करता है तो वे उसके निजी अनुभव होते हुए भी सबके अनुभव बन जाते हैं। कवि के अपने भाव साधारण, स्थूल और सपाट हो सकते हैं परन्तु कविता में ढलकर वे सूक्ष्म और जटिल बन जाते हैं। यह मत सभी को ग्राह्य होना चाहिए। भारतीय काव्यशास्त्र का साधारणीकरण का सिद्धान्त भी तो यही बात कहता है। वह भी कवि के निजी व्यक्तित्व को सामान्यीकृत रूप में काव्य के लिए ग्राह्य स्वीकार करता है।

इलियट कवि और कविता दोनों का परस्पर प्रभावित होना अस्वीकार नहीं करते हैं । उनका कहना है–

**मैं विश्वास करता हूँ कि कवि अपने पात्रों को अपना कुछ अंश अवश्य प्रदान करता है,किन्तु मैं यह भी विश्वास करता हूँ कि वह अपने निर्मित पात्रों द्वारा स्वयं प्रभावित होता है ।**

परस्पर प्रभाव डालने की इस क्रिया का फल यह होता है कि काव्यकृति में कवि के व्यक्तित्व की छाया रहती है, कवि अपने काव्य रूपी संसार में व्याप्त रहता है । वर्जिल कवि के प्रसंग में इलियट ने कहा है–

**जब मैं वर्जिल का संसार कहता हूँ, तब मेरा आशय उस संसार से होता है, जिसे उसने स्वयं निर्मित किया है ।**

अतः यह कहना गलत होगा कि इलियट कविता में कवि के व्यक्तित्व को अस्वीकार करता है । दूसरे शब्दों में इसे कविता में वैयक्तिक प्रज्ञा की स्वीकृति कह सकते हैं । इलियट ने अपने भाषण 'कविता के तीन स्वर' में इस प्रकार स्पष्ट किया है–

**प्रथम स्वर वह है, जिसमें कवि अन्य किसी से नहीं अपितु अपने आप से बात करता है । कविता का द्वितीय स्वर वह है, जिसमें कवि अन्यों अर्थात् श्रोताओं से बात करता है । तृतीय स्वर में कवि स्वयं वक्ता न होकर अपने पात्रों के माध्यम से बोलता है ।**

प्रथम प्रकार के स्वर में कवि का लक्ष्य सम्प्रेषण अर्थात् दूसरों तक अपने भावों को पहुँचाना नहीं होता । इस स्थिति में तो वह एक प्रकार के भार से व्यथित रहता है और अपनी बात कहकर उससे छुटकारा पा लेता हैं इस प्रकार की कविता में आन्तरिक वस्तु और रूप का साथ-साथ विकास होता चलता है । इसी प्रकार की कविता के विषय में इलियट ने कहा था–

**कविता स्वयं अवतरित हो जाती है, लिखी नहीं जाती ।**

ऐसी दशा में कवि केवल माध्यम होता है । दूसरे स्वर में कविता किसी

सजग सामाजिक उद्देश्य के लिए लिखी जाती है । मनोरंजन अथवा उपदेश के लिए लिखा गया साहित्य व्यंग्यकाव्य, नीतिकाव्य इसी कोटि में आता है । महाकाव्य में भी यही स्वर प्रधान होता है । ऐसी कविताओं में कुछ अंश पूर्व निर्धारित होता है । उदाहरण के लिए, यदि हमें कहानी कहनी है तो पहले से ही हम उसके कथानक-शिल्प के विषय में सोच लेते हैं कि उसके कथानक का गठन कैसा होगा ? कविता के तीसरे स्वर में नाटक आते हैं । स्पष्ट है कि दूसरे और तीसरे स्वरों की कृतियों को इलियट कवि की अचेतावसाि से उद्भूत नहीं मानते । इनमें वह अर्थात् कवि पूर्ण सजग होकर अपने व्यक्तित्व से कृति का निर्माण करता है, वह व्यक्तित्व से पलायन नहीं करता, अपितु अपने व्यक्तित्व का निर्माण करता है । काव्यशास्त्र की भाषा में इसी का नाम वैयक्तिक प्रज्ञा का प्रयोग है ।

वास्तविक यह होती है कि किसी भी कविता में एक स्वर का मिलना कठिन होता है । कविता के ये तीनों स्वर परस्पर की संगति में एक साथ रहते हैं । यदि कवि ने अपने आप से कभी कुछ नहीं कहा तो उसकी कृति कविता नहीं होगी, वह शानदार अनुभूति भले ही हो । यदि कवि ने केवल अपने लिए कविता लिखी हे तो वह नितान्त व्यक्तिगत होगी । जो कविता केवल कवि के लिये होगी, वह कविता नहीं हो सकती ।

ध्यान देने की बात यह है कि जिसने कला को 'व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति नहीं, अपितु व्यक्तित्व से पलायन माना और जिसने कविता में वास्तविक जीवन के भावों की उत्कटता को नहीं, अपितु कला प्रक्रिया की उत्कटता को महत्त्वपूर्ण मान, वह अब यह शिकायत करता है कि यीट्स की प्रारम्भिक कविता में उसका अपूर्व व्यक्तित्व नहीं मिलता है । उसमें उसके व्यक्तिगत भावात्मक अनुभवों की उत्कटता नहीं मिलती है । अतएव इस जिज्ञासा के समाधान के निमित्त इलियट ने वहीं पर अपनी स्थिति स्पष्ट कर देना ठीक समझा । इलियट ने कहा–

**मैंने अपने प्रारम्भिक लेखों में कला की निर्वैयक्तिकता को स्वीकार किया है और अब यह प्रतीत होगा कि यीट्स की उत्तरकालीन कविताओं को उसके**

**व्यक्तित्व की अभिव्यक्ति होने के कारण श्रेष्ठ बताने से मैं अपने उस मत का विरोध कर रहा हूँ। यह हो सकता है कि मैं उस समय अपनी बात ठीक से व्यक्त न कर सका या उस विचार को मैंने अप्रौढ़ रूप से ग्रहण किया था, किन्तु अब मैं सोचता हूँ कि इस विषय में तथ्य इस प्रकार है–निर्वैयक्तिकता के दो रूप होते हैं–एक वह निर्वैयक्तिकता होती है जो कुशल शिल्पी-मात्र के लिए प्राकृतिक होती है। दूसरी निर्वैयक्तिकता वह है जो प्रौढ़ कलाकार की होती हैं यह दूसरे प्रकार की निर्वैयक्तिकता उस प्रौढ़ कवि की होती है, जो अपने उत्कट और व्यक्तिगत अनुभवों के माध्यम से सामान्य सत्य को व्यक्त करने में समर्थ होता है। वह अपने अनुभव की सम्पूर्ण विशिष्टता को उसके द्वारा सामान्य प्रतीक प्रस्तुत करने के लिए बनाये रखता है।**

इससे स्पष्ट है कि इलियट वैयक्तिक प्रज्ञा का प्रयोग भी कविता में मानने लगा था, क्योंकि यौवन और उसके पश्चात्पूर्वी भावों में अन्तर वैयक्तिक प्रज्ञा का ही अन्तर सिद्ध करते हैं।

**8. आई.ए. रिचर्ड्स के मूल्य-सिद्धान्तों का संक्षिप्त विवेचन कीजिए।**

उत्तर – वस्तुतः इन्होंने साहित्य की मनोवैज्ञानिक विवेचना द्वारा पाश्चात्य समीक्षा को सर्वथा नूतन आलोक प्रदान करन का प्रयत्न किया है। उनके सैद्धान्तिक समीक्षा पर अत्यधिक प्रभाव पड़ा। आलोचना के व्यावहारिक क्षेत्र में भी निजी आदर्श प्रस्तुत किया। उन्होंने आलोचना के दो आधार स्तम्भ इंगित किए मूल्य और संप्रेषण। लेखक की मुख्य रचनाएं निम्नलिखित हैं–

1. Meaning of Meaning 1923
2. Principles of Literary criticism 1924
3. Science and Poetry, 1925

अब हम रिचर्ड्स के मूल्य व संप्रेषण सिद्धान्तों का विस्तृत विवेचन अधोलिखित रेखाओं में रेखांकित करते हैं–

**1. मुख्य सिद्धान्त** – रिचर्ड्स के अनुसार मूल्य का मानक भारतीय क्रियाओं क सामान्य मानो से पृथक् नहीं होता। साहित्य एक माननीय प्रक्रिया है, अतः उसका मूल्य निर्धारण करने वाले तत्त्व या मान भी वे ही हैं जो

माननीय क्रियों के लिये अपेक्षित होते हैं । इनके अनुसार कविता का मूल्य मन को प्रभावित करने की क्षमता पर निर्भर है ।

जितनी अधिक संप्रेक्षणीय किसी रचना में होती है वह रचना उतनी ही उत्कृष्ट कोटि की कही जायेगी । इनके अनुसार मन का अर्थ है मनोवेगों की क्रियाशीलता शिराविषयक व्यवस्था । मन के आवेग उसकी व्यवस्था को भंग किए रहते हैं । कला का प्रयोजन है मानवमन के आवेगों में संगति और संतुलन उपस्थित करना । अतः उन्होंने सत्य की कहा है–

**कोई भी वस्तु मूल्यमान् हो सकती है जो किसी एषणा की संतुष्टि करती हैं ।**

प्रत्येक व्यक्ति अपनी अधिकाधिक एषणों की संतुष्टि चाहता है । पर किसी भी एषणा की संतुष्टि के समय यह देखना होता है कि कहीं उसके समान या उससे भी अधिक महत्त्वपूर्ण एषणा बाधित या कुंठित तो नहीं हो रही । किसी अन्य एषणा को कुंठित किए बगैर यदि कोई एषणा संतुष्ट होती है तो वह मूल्यवान् है ।

इनके अनुसार सौन्दर्य एक विशेष प्रकार का मूल्य हैं इसे इन्होंने निरपेक्ष मूल्य कहा है । सौन्दर्य का मूल्य यही है कि इससे विरोधी अवरोधी मनोवेग व्यवस्थित एवं संतुलित होते हैं । सौन्दर्य से उत्पन्न मन की आनन्दमय स्थिति को न तो निष्क्रिय अथवा स्तब्ध अवस्था कहा जा सकता है और न उतेजित अवस्था ही । कुछ मनोवेग प्रवृत्तिमूलक होते हैं और कुछ निवृत्तिमूलक । कला इन सभी में संगति व संतुलन स्थापित करती है । संतुलित मन स्थिति वस्तुतः भारतीय काव्यशास्त्र के रसास्वाद या काव्यानंद दशा की मनोवैज्ञानिक व्याख्या है । इस प्रकार रिचर्ड्स के अनुसार कला मानव व्यापारों से सम्बद्ध है । मानव क्रियाओं में इसका मूल्य सर्वाधिक हैं काव्य का मूल्य है मानवमन के मनोवेगों में व्यवस्था एवं संतुलन की स्थिति उत्पन्न करना ।

रिचर्ड्स ने सौन्दर्य को विषय माना है । इन्होंने वस्तु में सुन्दरता न

मानकर व्यक्ति की दृष्टि में सुन्दरता की कल्पना की है । किसी वस्तु को सुन्दर कहने का अर्थ यह है कि हम अपनी मनः स्थिति का उस पर प्रक्षेपण या आरोप करते हैं । परन्तु सौन्दर्य विषयक इनकी इस मान्यता की परवर्ती विद्वानों ने आलोचना करते हुए उसे विषय निष्ठ घोषित किया है । इसका तर्क है कि काव्यवस्तु का चयन सौन्दर्य की विषय-निष्ठता को प्रमाणित करता है । तात्पर्य यह है कि विषयीगत स्थिति में विषय का महत्त्व ही जाता रहेगा । इसके अतिरिक्त सुन्दर वस्तु उपभोक्ता पर अपना अमिट प्रभाव डालती है, यह भी सौन्दर्य की वस्तुनिष्ठता का प्रमाण है । फिर भी सौन्दर्य को पूर्णतः विषयनिष्ठ मानना उचित नहीं है । दोनों का सत्य एकांगी है ।

रिचर्ड्स ने साहित्य और विज्ञान का भेद बताते हुये कहा है कि विज्ञान का आधार है कथन की सच्चाई । परन्तु जब किसी कथन की सच्चाई या झूठ महत्त्वहीन होते हैं और उनसे मानव के भावों और अंतर्वेगों की उद्‌बुद्धि होती है तो ऐसे छद्‌म कथन असाहित्यिक हे जायेंगे । कविता का सम्बन्ध बौद्धिक सत्य से न होकर रागात्मक प्रतिक्रिया से होता है । विज्ञान का सम्बन्ध बाह्य जगत् से है जबकि साहित्य मानसिक अवस्थाओं से सम्बन्ध है । वैज्ञानिक सत्य को जानने के लिये न्यायात्मक बुद्धि की आवश्यकता होती है जबकि साहित्य के लिये कलात्मक बुद्धि की अपेक्षा होती है । विज्ञान का धरातल वास्तविक होता है । साहित्य के धरातल में वास्तविकता अवास्तविकता की अपेक्षा भावों को जाग्रत करने की क्षमता अनिवार्य होती है ।

रिचर्ड्स ने साहित्य के मनोवेगों की महत्ता को स्वीकार करते हुए साहित्य विषयक मान्यताओं को भी इन्हीं मनोवेगों की महत्ता के संदर्भ में प्रतिपादित किया है । रिचर्ड्स ने मानव के सम्पूर्ण मनोवेगों को दो मुख्य वर्गों में रखा । एक आसंकित मूलक मनोवेग है और दूसरे विरक्तिमूलक मनोवेग है । प्रत्येक व्यक्ति में दोनों प्रकार के मनोवेग होते हैं तथा जीवन के अनुभवों में वस्तुतः इन्हीं अनुभवों का संचरण होता है । सरल अनुभवों में कम वृत्तियों का योग रहता है तथा जटिल अनुभवों में अधिक वृतियाँ सक्रिय होती है ।

सामान्य जीवन में प्रायः अनुभव सरल होते हैं तथा ये वृत्तियाँ अव्यवसिति व्यवस्थित तथा अस्त व्यस्तता रहती हैं मगर कवि के अनुभव में इन वृत्तियों की व्यवस्था होती है तथा कविता में उत्पन्न सहृदय का अनुभव भी इन वृत्तियाँ की व्यवस्थित अवस्था का नाम है। कविता से उत्पन्न मनोवेगों की इस अवस्था के लिये रिचर्ड्स ने पहले तो Syntheses शब्द का प्रयोग किया मगर फिर Thesis का प्रयोग किया। विरोधी मनोवेगों का संतुलन या समन्वित यही काव्य का चरम मूल्य है तथा काव्य के महत्त्व का आधार यह समन्वित ही है।

शुक्ल ने भी सभी भावें का वर्गीकरण करते हुये उन्हें दो वर्गों में रखा है। दुःखमूलक भाव और सुखमूलक भाव। दोनों प्रकार के भाव काव्य का विषय बनते हैं तथा अपनी-अपनी विशेषताओं के अनुरूप सहृदय को प्रभावित करते हैं। जिस प्रकार शुक्ल ने कविता के प्रभाव से भावों के व्यापक और परिष्कार की बात की है उसी प्रकार रिचर्ड्स भी यह मानते हैं कि काव्य के अध्ययन से सहृदय के रामतत्त्व का परिमार्जन होता है।

मनोवेगों का संतुलन तो जीवन में भी सिद्ध होता है, मगर काव्य के द्वारा जो संतुलन पैदा होता है। वह अधिक जटिल एवं मूल्यवान होता है। इसकी एक विशेषता यह भी है कि इसमें यद्यपि विरोधी मनोवेगों के संतुलन की अवस्था पैदा होती है जो कम से कम मनोवेगों को अवरुद्ध या कुंठित करती है। संतुलन की इस स्थिति का स्पष्टीकरण करते हुये रिचर्ड्स इस अवस्था को अनिर्णय की स्थिति से भिन्न रूप में प्रतिष्ठित करते हैं। अनिणर्य की स्थिति में दो विरोधी मनोवेगों के वर्ग सक्रिय रहते हैं जिसका परिणाम यह होता है कि व्यक्ति कोई भी पथ निर्धारित नहीं कर सकता। यद्यपि अनिर्णय की अवस्था में भी विरोधी मनोवेगों का एक प्रकार का संतुलन रहता है। मगर वह काव्यजन्य संतुलन से भिन्न है। इसी प्रकार संतुलन की यह स्थिति अत्यधिक हर्ष और विषाद की अवस्था से भी भिन्न है जहाँ चेतना किसी एक वर्ग के मनोवेगों से आविष्ट होती है।

मनोवेगों का यह संतुलन इस रूप में निष्प्रयोजन होता है कि वह कर्म में

प्रेरित नहीं करता । इस प्रकार जहाँ रिचर्ड्स का निष्प्रयोजन नेता से तात्पर्य है कर्म में लीन होने की प्रक्रिया का अभाव । यद्यपि यह कहा गया है कि रिचर्ड्स द्वारा निष्प्रयोजन जनता का यह उल्लेख कान्ट के निष्प्रयोजन आनन्द का स्मरण कराता है । मगर दोनों में अंतर विवेचन के स्तर का है । कंट का विवेचन दृश्य पर आश्रित है जबकि रिचर्ड्स के विवेचन का आधार मनोविज्ञान है । उसने मनोवेगों के संतुलन की अवस्था की तुलना उस खिलाड़ी से की है तो खेलों में भाग लेने के लिये संबद्ध है । सन्नद्धता से तुलना का अभिप्राय यह है कि मानसिक संतुलन की यह स्थिति कर्म से विच्छिन्न नहीं हे उसमें कर्म के संस्कार विद्यमान रहते हैं । कर्म के प्रति आसक्ति होती हैं मगर कर्म में प्रवृत्ति नहीं होती ।

यहाँ यह प्रश्न उत्पन्न होता है कि सभी सफल कविताओं के द्वारा मनोवेगों का संतुलन निष्पन्न होता है तो क्या सभी कविताएं समान रूप से श्रेष्ठ हैं । या उन सब में मनोवेगों के संतुलन की स्थिति समान होती है । इसका उत्तर यह दिया गया है कि मनोवेगों के संतुलन की अवस्था में अंतर होता है । रिकार्ड्स के अनुसार मनोवेगों के संतुलन के दो रूप हैं–

(1) मनोवेगों के समाहार के द्वारा जहाँ अनेक मनोवेगों का समाहार या समावेश होता है ।

(2) मनोवेगों के बहिष्कार द्वारा जहाँ कुछ सीमित मनोवेगों को स्वीकार किया जाता है तथा अधिकांश मनोवेगों का बहिष्कार किया जाता है ।

मनोवेगों का संतुलन के विषय में रिचर्ड्स ने यह भी स्वीकार किया हे कि इसकी सूक्ष्म एवं जटिल क्रिया के सभी पक्षों को पूरी तरह समझ पाना सम्भव नहीं है । कारण यह है कि मनोविज्ञान एवं मनोविश्लेषण के विकास के बावजूद भी मन की विविध क्रियाओं की वृत्तियों एवं मनोवेगों के उदय, संघर्ष और समन्विति की पूर्ण वैज्ञानिक एवं वस्तुपरक व्याख्या संभव नहीं है क्योंकि अध्ययन के विषयीपरक क्षेत्र में अध्ययन स्पष्ट है ।

रिचर्ड्स ने कल्पना को कोई रहस्यपूर्ण क्रिया नहीं माना । उसे भी मन की अन्य क्रियाओं के समान माना है । रिचर्ड्स ने कल्पना विषयक कॉलरिज

के अनुसार कल्पना एक ऐसी संयोजिक शक्ति है जो विपरीत और तिस्वर गुणों को संतुलित करती है। रिचर्ड्स के अनुसार यह विभिन्न एवं विपरीत मनोवेगों व अनुभवों में व्यवस्था व संतुलन उतपन्न करती है। इसके अतिरिक्त रिचर्ड्स ने कल्पना के कतिपय अन्य प्रचलित अर्थों का भी उल्लेख किया है। परन्तु कल्पना का सर्वोत्कृष्ट रूप उसी को माना है जिससे विरोधी व अनमेल गुणों का संतुलन या विरोधी परिहार होता है। कॉलरिज ने इसको संगीतात्मकता आनन्द का बोध कराने वाली कल्पना कहा है कि रिचर्ड्स ने उस कलाकृति को सर्वोत्कृष्ट माना है जो विरोधी भावों को व्यवस्थित करने वाली होती है। इससे अधोलिखित निष्कर्ष निकलते हैं–

(1) काव्य की सार्थकता उसके मूल्यबोध में है।

(2) इसे मूल्य में ही उच्चतर नैतिकता समाहित है।

(3) उसका मूल्यबोध सुखवाद से भिन्न है।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि रिचर्ड्स के समीक्षात्मक सिद्धान्तें के अध्ययन से ज्ञान होता है कि वे वैज्ञानिक अन्वेषक है। समीक्षा के क्षेत्र में उन्होंने एक नई दृष्टि प्रदान की है। व्यावहारिक समीक्षा एवं नयी समीक्षा के वे प्रवर्तक माने जाते हैं। अतः रिचर्ड्स का स्थान इलियट, मैथ्यू आदि की भाँति इस क्षेत्र में अद्‌भुत एवं अद्वितीय है।

## खण्ड-ख

**1 मार्क्सवादी आलोचना का संक्षिप्त विवेचन कीजिए।**

उत्तर – जिन कारणों से व्यक्ति प्राणियों में सर्वोत्तम माना जाता है उसके पीछे केवल मात्र विवेक का रहस्य है। विवेक के द्वारा ही व्यक्ति नीर-क्षीर को अलग करता है और इसी आधार पर जीवन मंजिले पर उत्तरोत्तर पढ़ता चला जाता है।

मानव जीवन के इतिहास के साथ ही विचारों का इतिहास उत्पन्न हुआ। बाद में यही विचार अन्य वादों, विवादों एवं अपवादों में विभक्त हो

जाता है। साहित्य इतिहास का गहन अनुशीलन करने से यह सहज ही उद्भाषित हो जाता है कि किन-किन परिस्थितियां में यह विचित्र प्राणी मानव गुजर रहा है। इसी प्रकार मार्क्सवादी विचारधारा भी मानवजीवन के साथ ही संबंधित एक ज्ञान धारा है। अब मार्क्सवादी आलोचना का अधोलिखित पंक्तियों में संक्षिप्त विवेचन किया जाता है।

**1. मानव जीवन का इतिहास –**

**(1) दासता का युग** – इस युग में कृषि और गोपालन के फलस्वरूप व्यक्तिगत सम्पत्ति का उदय हुआ। इसमें सम्पत्ति के स्वामियों ने सम्पत्तिहीन व्यक्तियों को अपना दास बनाया। इस युग में राज्य और उसके सम्बद्ध संस्थाओं का जन्म हुआ।

**(2) सामन्तशाही युग** – इस युग में सामन्त भूमि तथा उत्पादन के अन्य साधनों के स्वामी थे। ग़रीब किसान इन मुट्ठी भर सामन्तों के अधीन तो थे किन्तु दास नहीं।

**(3) पूंजीपति युग** – इसमें अर्थ समाज और राज्य के स्वामी पूंजीपति होते हैं श्रमिक अपना जीवन निर्वाह अपना श्रम बेचकर करते हैं।

**(4) सर्वहारा युग** – यह सर्वहारा के अधिनायक का युग होगा जिसमें अर्थ, समाज और राज्य की बागडोर श्रमिकों के हाथों में होगी। यह समाजवादी शोषण समाजरहित युग होगा। इसमें वर्गहीन ही नहीं राज्य विहीन समाज की ही स्थापना होगी। यह स्वर्ण युग होगा जिसमें मानव की पूर्ण एवं वास्तविक स्वतन्त्रता सम्भव हो सकेगी।

**2. मुख्य सिद्धान्त –**

**(1) द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद** – मार्क्स ने द्वन्द्ववाद एवं भौतिकवाद के शब्द हीगेल और फायर बुरक से लिये। इस प्रकार उन्होंने द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का शिलान्यास रखा। आर्थिक ढांचे पर किसी युग का सामाजिक, राजनैतिक और सांस्कृतिक ढांचा आश्रित होता है। मार्क्स के अनुसार आर्थिक ढांचे का अर्थ है–उत्पादन प्रणाली।

इसके अन्तर्गत उत्पादन की शक्ति और उत्पादन के सम्बन्ध दोनों ही आते हैं। उत्पादन की शक्ति वाद है और उत्पादन के सम्बन्ध प्रतिवाद। इस भाँति मार्क्स ने हीगल के द्वन्द्ववाद को जो सर के बल खड़ा किया और उसे यथार्थ भूमि प्रदान की। उनकी पूर्ण सिद्धान्त द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद का आधार है। उन्होंने आनंदवाद के विरुद्ध भौतिकवाद की स्थापना की है। मार्क्स का स्पष्ट विचार है कि संसार में सभी कार्य अर्थवाद से प्रभावित होते हैं और जिस कार्य में जितना धन मिलता है उसी अनुपात से आनन्द की प्राप्ति होती है। इस प्रकार उन्होंने उपयोगितावादी मूल्यों की स्थापना पर विशेष बल दिया है और इसी का यह प्रभाव था कि साहित्य में लोकमंगल की भावना का जन्म हुआ। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद की मुख्य तीन मान्यताएं हैं–

**(1) वाद** – प्रत्येक वस्तु के विरोध पक्ष तत्त्व उसी वस्तु में सीमित रहते हैं। किन्तु वे कुछ काल तक दबे रहते हैं। इन परिस्थिति को वाद कहते हैं।

**(2) प्रतिवाद** – कालांतर में वाद परिस्थिति का विरोध वे ही तत्त्व करने वाले लगते हैं जो उसमें सन्निहित थे। इस परिस्थिति के अनुसार किसी भी नई परिस्थिति का जन्म दो विरोधी परिस्थितियों के संघर्ष से होता है।

**(3) समन्वय** – इस प्रकार जब वाद और प्रतिवाद का संघर्ष होता है तो एक तीसरी परिस्थिति का सर्जना होती है। एक तीसरी परिस्थित का सर्जना होती है। इसको समन्वय की संज्ञा से अभिहित किया जाता है।

**ऐतिहासिक भौतिकवाद** – आत्मवादी दर्शन यह स्थापित करता है कि मानव-संस्कृति के विकास का आधार चेतना की निरन्तर विकास प्रक्रिया है। यह विचारधारा इतिहास दर्शन को विचारात्मक या आदर्शवादी व्याख्या कहलाती है, जिसे आध्यात्मिक विकासवाद का सिद्धान्त स्वीकार किया जाता है। हीगेल इस मान्यता के समर्थक थे।

इस सिद्धान्त के विरुद्ध ही इतिहास के भौतिकवादी सिद्धान्त का सूत्रपात हुआ। इस सिद्धान्त ने अगोचर, आत्मतत्त्व या सूक्ष्म को अस्वीकार करते हुए गोचर, स्थूल, आर्थिक, सामाजिक आदि परिस्थितियों के आधार पर ऐतिहासिक विकास की प्रक्रिया स्वीकार की। इसके मूल में संघर्ष को माना

गया, जिसे द्वन्द्वात्मक प्रक्रिया का नाम दिया गया। इस सिद्धान्त की प्रमुख मान्यताएँ अग्रलिखित हैं–

**(1) विकास का आधार संघर्ष** – इतिहास का विकास शान्त एवं सहज रूप में नहीं होता। उसका आधार संघर्ष है अर्थात् संघर्ष सतत कार्यशील रहता है। यह संघर्ष शान्त भी हो सकता है और क्रांति के रूप में रक्त क्रान्ति का रूप भी ले सकता है। संघर्ष का कोई नियम नहीं है। विकास की प्रक्रिया में वह किसी भी रूप (राजनीतिक, सामाजिक, रीति-रिवाज, नैतिक, आर्थिक, दार्शनिक आदि) में हो सकता है।

इस दर्शन की व्याख्या करते हुए एँजिल्स ने मार्क्स की समाधि पर स्पष्ट किया–

> **मार्क्स का एक महान् कार्य मानव-इहिास में विकास के नियम की खोज था, उसने अब तक विचारधाराओं के झाड़-झंखाड़ में छिपे हुए इस सरल तथ्य का पता लगाया था कि मनुष्य जाति को राजनीति, विज्ञान, धर्म आदि का विकास करने से पहले खाने-पीने की, निवास की ओर कपड़ों की आवश्यकता है। अतएव एक निश्चित समय में, एक निश्चित जाति में जीवन-निर्वाह के तात्कालिक भौतिक साधनों का उत्पादन एवं आर्थिक विकास की मात्रा एक ऐसी नींव होती है, जिस पर उस जाति की राज्य-विषयक संस्थाएँ, कानूनी विचार, कला तथा धार्मिक विचार आधारित होते हैं, अतः इसी दृष्टि से उन सब वस्तुओं की व्याख्या की जानी चाहिए।**

**(2) आर्थिक नियन्त्रण** – यह स्वीकार किया गया कि सम्पूर्ण व्यवस्था एवं विकास की प्रक्रिया आर्थिक स्थिति द्वारा निर्धारित होती है, क्योंकि यह अर्थ ही उत्पादन का साधन और वितरण व्यवस्था का आधार है। भोजन मनुष्य के लिए सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है, अतः सर्वाधिक महत्त्व भोजन उत्पादन पर केन्द्रित रहता है। अर्थ समस्त उत्पादन के साधनों और वितरण पर नियंत्रण रखता है। अतः पूंजीपति इन साधनों पर एकाधिकार कर लेते हैं, जिसका परिणाम संघर्ष होती हे जो सामाजिक असन्तोष को जन्म देता है। संक्षेप में यह कहा जा सकता है कि अर्थ या उस पर एकाधिकार रखने वाला वर्ग सम्पूर्ण राज्य व्यवस्था, नियम कानून, सामाजिक नैतिक मान्यताओं,

नियम यहाँ तक कि धर्म आदि पर नियन्त्रण रखता है ।

आर्थिक कारणों के आधार पर मानव-इतिहास के पाँच विभाग किये गये–

(1) आदिम साम्यवादी (Primitive Communist)

(2) दास पद्धति-काल (Slave System)

(3) सामन्तवादी व्यवस्था (Feudal System)

(4) पूँजीपति पद्धति (Capitalist System)

(5) साम्यवाद (Communism)

उसने यह भी घोषणा की कि पिछले तीन युग समाप्त हो गये, पूँजीवादी युग चल रहा है, साम्यवादी युग आयेगा ।

(3) आर्थिक नियंत्रण जटिल – मार्क्स ने यह भी स्वीकार किया कि आर्थिक नियन्त्रण के माध्यम से विकास की प्रक्रिया सरल नहीं होती । इसे राजनीतिक एवं आर्थिक क्षेत्र में तो समझना अपेक्षाकृत सरल है, पर धर्म और साहित्य के संदर्भ में समझना जटिल व्यापार है, अतः इसका अध्ययन सावधानी एवं सतर्कता से करना चाहिए ।

**(4) विशिष्ट आर्थिक व्यवस्था** – इस मान्यता के अनुसार जैसी अर्थव्यवस्था होगी, वैसा ही दर्शन, संस्कृति और धर्म-संस्कारों का स्वरूप बनेगा । उस व्यवस्था के नाम भी अलग-अलग होंगे । यथा–सामन्तवाद, पूँजीवाद, समाजवाद, साम्यवाद आदि और इन अलग-अलग व्यवस्थाओं में चिन्तन की पृथकता होने के कारण संस्कृति और साहित्य आदि का रूप भी भिन्न होगा ।

**(5) पूँजी का केन्द्रीयकरण** – मार्क्स की मान्यता है कि पूँजी की एक सहज प्रवृत्ति है– अधिक हाथों से कम हाथों में एकत्रित हो जाना । यह स्थिति समाज में वर्ग उत्पन्न कर देती है–पूँजीवादी वर्ग, पूँजीहीन वर्ग या सर्वहारा वर्ग । उत्पादन की सारी शक्ति पूँजी में केन्द्रित होने के कारण पूँजीवादी वर्ग को उत्पादक वर्ग और दूसरे को श्रमिक वर्ग कहा जाता है । इस

श्रमिक वर्ग को ही सर्वहारा वर्ग कहते हैं। स्वाभाविक है कि उत्पादन के समस्त स्रोत पूँजीवादी हाथों में सीमित हैं और इसे ही वर्ग-संघर्ष का कारण स्वीकार किया गया।

**(6) वर्ग संघर्ष** – वर्ग संघर्ष आवश्यक है, क्योंकि पूंजी के केन्द्रीकरण के कारण विषमता बढ़ती है और विषमता वर्ग-संघर्ष का कारणहै। उनकी मान्यता है कि तीव्र एवं व्यापक वर्ग-संघर्ष द्वारा ही सर्वहारा वर्ग अपनी जन-शक्ति एवं संगठन-शक्ति के कारण, पूँजीपतियों एवं उनकी क्रूर व्यवस्था और उसे बनाये रखने के संघर्ष को परास्त कर सकता है। इसे क्रान्ति कहा जाता है।

**(7) मानव-कल्याण की भावना** – उनका चरम लक्ष्य जन-कल्याण है, क्योंकि उनकी धारणा है कि मार्क्सवाद ही ऐसा सिद्धान्त है जो मानवता का कल्याण कर सकता है।

**(8) व्यक्ति और समाज** – साम्यवाद व्यक्ति को समाज से निरपेक्ष इकाई नहीं मानता। समाज ही व्यक्ति को व्यक्तित्व प्रदान करता है। अतः समाज के सामने व्यक्ति का महत्त्व गौण है। व्यक्ति के विचार और आदर्श समाज की आर्थिक स्थिति के ही परिणाम हैं। समाज की भौतिक स्थिति का परिवर्तन चिन्तन की दिशा बदल देता है।

**3. मूल्य का सिद्धान्त –**

**(1) मूल पदार्थ** – इसका भाव यह है कि मिल मालिक सर्वप्रथम कच्चा माल खरीदता है फिर वह उसके मिल में पहुँच जाता है जैसे किसी मिल मालिक ने 250 रुपये की कपास खरीदी।

**(2) श्रमिक का श्रम** – इसके बाद फिर वह कच्चा मिल में पहुँच जाता है। मजदूर अपना खून पसीना एक करके कपड़ा तैयार करता है। इसके लिये मजदूरों को केवल 500 रुपये देता है।

**(3) मूल्य वृद्धि** – इसके बाद पूँजीपति उस कपड़े को 2500 रुपये में बेच देता है। इस प्रकार पूँजीपति ने 750 रुपये खर्च करके 1650 रुपये स्वयं

अनुचित लाभ उठा लेता है। इस प्रकार वह ग़रीब मजदूर का शोषण करता है।

**(4) अर्थ व्यवस्था** – इस प्रकार मूल्य वृद्धि के सिद्धान्त के अनुसार समाज में Sub Structure और Super Structure दो दावे बन जाते हैं। अतः नींव में परिवर्तन आना आवश्यक है फिर ऊपरी ढाँचा स्वयमेव परिवर्तित हो जायेगा।

**4. विश्व सभ्यता का विकास** –

इस प्रकार समाज में विश्व सभ्यता का उदय होगा। इसमें जातपात, रंगभेद, ऊँच-नीच का सर्वथा अभाव होगा। इस प्रकार की सभ्यता में ही मानव शांतमय एवं सुखमय जीवन व्यतीत कर सकेगा।

**5. आलोचना** –

यह सिद्धान्त कल्पना रुढ़िवादी आदि का विरोध करता है और धनी लोगों का भी विरोध करता है। परन्तु निर्धनों का समर्थक है। इसके मुख्य दोष निम्नलिखित हैं–

(1) इसमें भौतिकता की प्रधानता है और यह भारतीय आध्यात्मिक मूल्यों की अवहेलना करता है।

(2) यह केवल शोषित वर्ग का ही चित्रण करता है।

(3) यह सामाजिक समता के लिये हिंसात्मक गति को ही एकमात्र साधन मानता है। इसके विषय में लैनिन ने सत्य ही कहा है–

**कोई कलाकार वस्तुतः तभी महान् हो सकता है जबकि उसने अपनी रचना से क्रांति के कुछ न कुछ पहलुओं का अवश्य चित्रण किया हो।**

(4) मार्क्सवादी यथार्थ के नाम पर नग्न व अश्लील चित्र प्रस्तुत करता है।

(5) यह मस्तिष्क को अपील करता है परन्तु हृदय को नहीं।

ऊपरलिखित विवेचन-विश्लेषण के आधार पर इतना ही कहना पर्याप्त

होगा कि मार्क्सवादी आलोचना की भी अन्य प्रकार की आलोचनाओं की भाँति एक महत्त्वपूर्ण आलोचना है। इसमें गुण व दोषों का सुन्दर समन्वय मिलता है। यदि नकारात्मक दृष्टि न अपनाये तो मानना पड़ेगा कि मार्क्सवादी आलोचना साहित्य को बौद्धिक या मानसिक ऐय्याशी के गड्ढे से निकाल कर उसे जीवन के यथार्थ प्रांगण में स्थापित करती है।

**2. मनोविश्लेषणवाद की परिभाषा देकर इसकी मुख्य विशेषताओं का उल्लेख कीजिए**

**अथवा**

**सिगमण्ड फ्रायड अलेफ्रेड एडलर आदि के मनोविश्लेषण सिद्धान्त की संक्षिप्त परिचय प्रस्तुत कीजिए।**

उत्तर – मनोविश्लेषणवाद मानव-मन के विश्लेषण करने की एक मनौवैज्ञानिक पद्धति है जिसका जन्मदाता वियना का मस्तिष्क-चिकित्सक सिगमण्ड फ्रायड को स्वीकार किया जाता है। इस पद्धति पर पर्याप्त विचार हुआ है, पर विशेष महत्त्व एडलर और कार्लजुंग को ही दिया जाता है।

फ्रायड ने 1881 ई. में मस्तिष्क-चिकित्सक के रूप में व्यवसाय आरम्भ किया। इससे पूर्व उसने अपनी शिक्षा रसायनशास्त्र, वनस्पतिशास्त्र और शरीरशास्त्र के माध्यम से पूरी की थी। उसने यह स्वीकार किया है कि सम्मोहन द्वारा मानसिक चिकित्सा सुगम हैं इस सम्मोहन-चिकित्सा पद्धति का अध्ययन उसने पेरिस जाकर वहाँ के प्रतिष्ठित मनौवैज्ञानिक मस्तिष्क-चिकित्सक डॉक्टर चारकोट के साथ किया। उसका निष्कर्ष था कि सम्मोहित अवस्था में व्यक्ति से वे सारे रहस्य जाने जा सकते हैं जो इससे विपरीत दशा में शायद प्रकट न हो सकें। अतः सम्मोहन व्यक्ति के अचेतन तक पहुँचने का सहज साधन है। यह भी माना जाता है कि मानसिक विकृति के दो कारण है– भूली हुई अथवा भुलाई हुई घटनाएँ और दमित इच्छाएँ। अतः सम्मोहन, स्वच्छन्द विचार, सामाजिक अवरोध-हीनता, उसकी पुरानी स्मृतियों को जीवित करने और सहज स्वस्थ होने में सहायक हैं।

**फ्रायड के ग्रंथ** – फ्रायड का साहित्य पर्याप्त विस्तृत है, किन्तु इसकी प्रसिद्धि का आधार एक पुस्तक है जिसका सीधा सम्बन्ध 'मनोविश्लेषण' से हैं इसके अंग्रेज़ी रूपान्तर का नाम है– An Outline of Psycho-analysis.

**मनोविश्लेषणवाद की मुख्य विशेषताएँ** – फ्रायड द्वारा प्रस्तुत मनोविश्लेषणवाद की प्रमुख विशेषताएँ निम्नलिखित हैं–

**1. मानव व्यक्तित्व का शिल्पीकरण** – इन्होंने मानव व्यक्तित्व के शिल्पीकरण की प्रक्रिया में अग्रलिखित तीन तत्त्वों को स्वीकार किया ।

**(1) इद** – यह एक प्रकार की ऊर्जा है, जिसका कार्य प्रतिवर्ती क्रियाओं एवं विभ्रमों के निराकरण या परितोष में होता है । इसे तनाव-मुक्ति में सहायक मानते हुए सुख-सिद्धान्त की संज्ञा दी गई ।

**(2) अहम्**– इसका विकास संज्ञा प्राप्ति एवं बौद्धि विकास के बाद परिवार के संसर्ग में आने पर होता है । यह इद को व्यवस्थित रखता है तथा इद के परितोष के लिए मार्ग निर्धारित करता है । चेतना जो एक क्षणिक तत्त्व है, अहम् का भौतिक गुण है । इसका कार्य सहज वृत्तियों जिसे इद कहते हैं, की पूर्ति करने के साधन जुटाना भी है । इस कारण इसे वास्तविक सिद्धान्त स्वीकार किया गया ।

**(3) अति अहम्** – यह वह वृत्ति है जिस पर दो तत्त्व शासन करते हैं– अहं आदर्श तथा विवेक अथवा अन्तःकरण । अहं आदर्श का निर्माण, सामाजिक-पारिवारिक आदर्श, जीवन-मूल्य, नैतिक-सांस्कृतिक मान्यताओं आदि से होता है । इसे आदर्शवादी या पूर्णतावादी सिद्धान्त स्वीकार किया गया है ।

मानव व्यक्तित्व का शिल्पीकरण अपनी विकसित काम-प्रवृत्ति तथा परिवार से सन्दर्भित काम-वासनाओं द्वारा होता है । फ्रायड शिशु को आरम्भ से ही काममूलक मानता है । तेरह वर्ष की अवस्था से रति-इच्छाएँ बलवती होने लगती हैं और वह नवीन काम-चेतना से उद्वेलित हो उठता हैं इस अवस्था में इद, अहम् और अति-अहं से एक सन्तुलन स्थापित हो जाता है । सन्तुलन का अभाव विकार का कारण बनता है ।

**2. वृत्तियों की अवधारणा** – वृत्ति सहज होती है, उसका कोई लक्ष्य भी होता है तथा लक्ष्य-प्राप्ति के साधन भी होते हैं । जो उन वृत्तियों को उत्तेजित करते हैं, उन्हें संवेग कहा जाता है । शारीरिक उतेजना को वृत्ति की जाग्रति का आधार माना जाता है । वृत्ति जाग्रत होकर जब अपने तथ्य की ओर बढ़ती है तो व्यक्ति का अहं और अति अहं उसमें बाधक हो उठता है । किसी रूपसी को देखकर जो उतेजना अनुभव होगी, वही काम-वृत्ति का उद्‌गम होगी । यदि पूर्ति हो गई तो सहज स्थिति आ जायेगी अन्यथा तनाव बढ़ता रहेगा ।

**3. चेतन, अचेतन एवं अर्द्ध-चेतन** – फ्रायड ने मन के तीन स्तरों को स्वीकार किया है–

**(1) चेतन** – उनकी धारणा है कि वृत्यात्मक ऊर्जा अर्थात् मूलवृत्ति जब प्रबल हो उठती है और उत्तेजित मन अपनी भावनाओं को शब्द देने में सफल हो जाता है, तब मन का यह स्तर चेतन कहलाता है या जिस अवस्था में भावनाओं अथवा विचारों का मनुष्य को शीघ्र शोध हो जाता है, उसमें अहम् की प्रधानता रहती है ।

**(2) अचेतन** – जब यह वृत्त्यात्मक ऊर्जा अहं या अति-अहं के कारण सबल नहीं हो पाती, उत्तेजित मन का सम्बन्ध शब्दों से स्थापित नहीं हो पाता, तो भावनाएँ कुण्ठित होकर मन के उस स्तर पर पूंजीभूत हो जाती हं जिसे अचेतन मन कहते हैं ।

हृदय के अधिकांश सूक्ष्म अंग अचेतन मन पर भी घनीभूत होते हैं अर्थात् व्यक्ति की अधिकांश भावनाएँ एवं मनोविकार अचेतन में ही दबे रहते हैं अथवा यों कह सकते हैं कि अचेतन मन जीवन के सभी अनुभवों एवं अभुक्त वासनाओं को सुरक्षित रखने वाला केन्द्र है । फ्रायड इस ही मनुष्य के आचार-विचार, व्यवहार-स्वभाव आदि को प्रकट करने वाली प्रमुख शक्ति मानता है ।

**(3) अर्ध-चेतन** – यह अचेतन का ही एक रूप है ।

**4. काम की अवधारणा** – फ्रायड के मनोविश्लेषणवाद का सर्वाधिक

महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त 'काम-सिद्धान्त' ही है। उन्होंने जीवन को सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण तथा प्रबल शक्ति काम को ही माना है। उन्होंने इसका नामकरण लिबिडो किया। काम-वासनाओं का विकास चार प्रकार से होता है– मुखगत, गुदागत, लैंगिक तथा जननेन्द्रिगत।

फ्रायड शिशु को जन्म से ही काममूलक मानते हैं। मुखगत काम ऊर्जा के कारण वह माँ के स्तनपान और अंगूठा चूसने में आनन्द का अनुभव करता है। फ्रायड यह स्वीकार करता है कि मल-त्याग में जो आनन्द होता है, वह गुदागत है। उसे इस अवस्था में अहं या अति अहं ने प्रभावित नहीं किया है और यौवन की स्थिति आते ही उसकी सहज स्थिति में काम-सुख फिर कामेन्द्रियों पर स्थिर होने लगता है। तेरह वर्ष की अवस्था में रति-चेतना जाग्रत होती है और उस समय दो ग्रन्थियों का विकास हो उठता है।

(1) इडिपस कॉम्प्लेक्स – यह उसके मन में विषमलिंगी के प्रति कामेच्छा और समलिंगी के प्रति ईर्ष्या की भावना जगाती है। इस अवस्था में इनकी पूर्ति सम्भव नहीं हो पाती–अनेक विरोध (अहं, अति-अहं आदि) उपस्थित हो जाते हैं और इच्छाएं दमित हो जाती हैं, पर ये मर नहीं जातीं, अचेतन में एकत्रित हो जाती हैं।

**(2) कास्ट्रेशन कॉम्प्लेक्स** – इसे मनोग्रन्थि भी कहा गया है। इस ग्रन्थि के विकास तक पूर्ण यौवन की स्थिति आ जाती है।

दमित कामेच्छाएँ या अतृप्त कामेच्छाएँ जो अचेतन में एकत्रित होती रहती हैं, स्वप्न के रूप में फूटती है और सामान्य जीवन में अनेक भूलें कराती हैं। ये वासनाएँ जब अत्यधिक प्रबल हो उठती हैं, तब अनेक विकार उत्पन्न हो जाते हैं, जैसे–हिस्टीरिया आदि और व्यक्ति अपराधी होकर दुराचारी तक हो सकता है।

**5. दमित वासनाएँ और साहित्य** – जन्मकाल से काम की वृत्ति होने के कारण काम मानव की मूल एवं सर्वाधिक शक्तिशाली प्रवृत्ति है। फ्रायड मानव-जीवन के सभी क्रिया व्यापारी के मूल में काम को स्वीकार करता है, पर वह वृत्ति निरन्तर दबायी जाती है। इसके उसने दो कारण स्पष्ट किये हैं–

**(1) सामाजिक अवरोध** – इसे उसने अहं और अति अहं के अन्तर्गत रखकर स्पष्ट किया है ।

**(2) मानसिक** – इसके अन्तर्गत फ्रायड ने मानसिक चिन्ताओं का उल्लेख किया है । ये तीन प्रकार की होती है ।

**(1) वस्तुनिष्ठ** (Objective) – किसी बाहरी भय के कारण यह चिन्ता उत्पन्न होती है ।

**(2) स्नायुविक** (Neurotic) – यह चिन्ता अहं के उल्लंघन के भय से उत्पन्न होती है ।

**(3) नैतिक** (Moral) – अति अहम् का अतिक्रमण करने का भय इस चिन्ता को उभारता है ।

इस प्रकार यह स्वाभाविक हुआ कि वासनाओं की पूर्ति भी होती है और दमन भी । यह दमन कई कारणों से होता है–अहं, अति अहम्, बाह्य भय, सामाजिक भय, नैतिक भय । ये दमित वासनायें अचेतन में समाती रहती हैं, शान्त नहीं होतीं । इनके फूटने के तीन स्वरूप फ्रायड ने स्वीकार किये हैं–

**(1) मानसिक रोगों के रूप में** – ये विकृतियाँ फूटकर अनेक मानसिक रोगों का रूप ले लेती हैं । जैसे–हिस्टीरिया, मानसिक विक्षिप्तता आदि ।

**(2) मानसिक विकारों के रूप में** – जब मूल प्रवृत्तियों का दमन अविद्यात्मक रूप लेकर फूटता है तो पाप-कर्मों की ओर धकेल देता है ।

**(3) उदात्त रूव में** – ये वृत्तियाँ जब उदात्त रूप में फूटती है तो कला, साहित्य, धर्म और संस्कृति का रूप धरण करती है । कला और साहित्य फ्रायड के अनुसार दमित वासनाओं के उदात्त रूप में प्रकट होने का ही फल हैं

फ्रायड ने The Relation of the Poet to Day-dreaming में इस तथ्य को स्पष्टतः स्वीकार भी किया है कि कवि-कलाकार अपनी दमित वासनाओं को समाज के भय के कारण कला के रूप में परिवर्तित कर देता है ।

**कार्ल जुंग** – इनके अनुसार भी काम मानव जीवन की मूल प्रवृत्ति और उसके समस्त क्रियाकलापों की निर्णायक एवं प्रेरणादायक शक्ति है । काम के

वेग को गतियुक्त और ठहराव से युक्त मानते हुए इन्होंने यह स्पष्ट किया है कि प्रारम्भ में यह वेग 'आहारगत' होता है फिर 'रत' । वीर्य की उत्पत्ति होते ही यौवनावस्था की स्थिति आती है । इसके अवरोध में व्यक्ति जीवन में खालीपन अनुभव करता है, पर काम अपने उद्देश्य की ओर गतिमान रहता है । उन्होंने इसकी दो दशायें मानी हैं–

**(1) अन्तर्मुखी प्रवाह** – इस प्रवृत्ति का व्यक्ति भावुक, पलायनवादी और लचीला होता है ।

**(2) बहिर्मुखी प्रवाह** – इस प्रवाह के कारण व्यक्ति में साहस एवं कर्मचेतना का संचार होता है ।

**जुंग की साहित्य-सम्बन्धी मान्यताएं** – जुंग ने फ्रायड की अपेक्षा साहित्य और कला पर कुछ अधिक विचार किया है–

(1) उनके अनुसार कला का मूल उतस सामूहिक संस्कारगत मूल प्रवृत्तिों से है । उसमें अवचेतन मन की वैयक्तिक प्रवृत्तियों की भूमिका रहती हैं ।

(2) जुंग के अनुसार कला-सर्जना के दो प्रकार हैं–मनोवैज्ञानिक तथा अभ्यासगत । मनोवैज्ञानिक कला मनुष्य के चेतन मन से अपनी सामग्री जुटाती है और उसके सामान्य अनुभवों को लेकर काव्य-अनुभूतियों को व्यक्त करती है । इस प्रकार रचना-प्रक्रिया का मूल उत्स उसने मानव मन के समयातीत संस्कार को माना है ।

(3) जुंग कला के मूल उत्स को मानव के अंतश्चेतन में युग से संचित कालातीत संस्कार को मानता है । मनुष्य की अन्तर्वृत्तियों और बहिर्वृत्तियों के सामंजस्य से ही यह उत्स काव्यकला की भागीरथी में बदलता है ।

(4) पहले संचित संस्कार द्वारा आदर्श स्थापित किये जाते हैं । ये आदर्श देश-कालातीत होते हैं । इसके पश्चात् उन स्मृतियों, प्रतीकों एवं प्रतिभाओं को जगाया जाता है, जो अवचेतन में दबी रहती हैं ।

(5) कवि रसानुभूति करता है । उसकी आनन्दानुभूति में विभिन्न

उपमान, प्रतीक और कल्पनाएँ निश्चित शिल्प में बंधकर काव्य के रूप में प्रसूत हो जाते हैं ।

**अल्फ्रेड एडलर** – एडलर ने 9 वर्ष तक फ्रायड-स्कूल के मनोवैज्ञानिक के चेयरमैन के रूप में कार्य किया था । 1911 ई. में इन्होंने अपना अलग स्कूल खोला था । इनके सिद्धान्तों को संक्षेप में इस प्रकार प्रस्तुत किया जा सकता है–

**(1) व्यक्तित्व-निर्माण** – एडलर, फ्रायड की भाँति मानव विकास में जैवीय शक्तियों को नहीं मानते । वे उसके विकास में सामाजिक शक्तियों की महत्ता स्वीकार करते हैं । फ्रायड के काम सिद्धान्त उन्हें अमान्य हैं । उनके इस सिद्धान्त का मूल्यांकन करते हुए दुआने ने अपने ग्रंथ आधुनिक 'मनोविज्ञान का इतिहास' में लिखा है–

एडलर ने फ्रायड के अनुसार व्यक्तित्वनिर्माण और विकास में बाल्यकाल का महत्त्व तो स्वीकार किया, किन्तु एडलर का समस्त बल सामाजिक शक्तियों पर रहा, जैवीय शक्तियों पर नहीं ।

इन्होंने काम को जीवन का मूल केन्द्र न मानकर अहं को महत्त्व दिया । फ्रायड जहाँ मानसिक रोगों का कारण काम-कुण्ठा को मानता है, वहीं एडलर अहं की माँग, या अहं के आग्रह के स्वीकार करते हैं । उनके अनुसार अहं की तुष्टि न हो सकता इसका कारण है ।

**(2) श्रेष्ठत्व** – फ्रायड जीवन के सभी क्रिया-कलापों के मूल में काम को स्वीकार करता है, वहीं इनकी धारणा है कि, ''श्रेष्ठत्व प्राप्ति का उद्देश्य ही मानवीय क्रिया का मूल है ।

दुआने ने इसे इस प्रकार स्पष्ट किया है, मनुष्य जिस उद्देश्य के लिये प्रयत्नशील है, वह उत्कृष्टता या श्रेष्ठत्व ही है जिसमें पूर्ण विकास, पूर्णता, गुण-सम्पन्नता और आत्मानुभूति की भावना निहित है ।

एडलर की मान्यता है कि शिशु का शारीरिक, फिर मानसिक विकास श्रेष्ठत्व प्राप्त करने का प्रयास ही है । मानव का सामाजिक, राजनीतिक विकास का आधार भी यही है । एडलर ने स्वयं स्वीकार किया है–

**नीचे से ऊपर जाने की उत्कंठा कभी समाप्त नहीं होती, यह हमारे जीवन का आधारभूत तथ्य है ।**

**(3) हीनभावना** – एडलर के अनुसार हीनभावना विकास का मुख्य आधार है क्योंकि व्यक्ति के पास जो नहीं है, उसे वह प्राप्त करना चाहता है, क्योंकि अक्षमता से व्यक्ति का अहं आहत हो उठता है और उसकी क्षतिपूर्ति हेतु वह क्रियाशील हो उठता है । अतः एडलर के अनुसार मन के समस्त क्रिया-कलापों का आधार 'हीनत्व' की भावना है । फिलिप हैरीन ने इसे इस रूप में प्रस्तुत किया है–

An attitude of inferiority develops when an individual feels deficient on comparisons with others. He postulates a basic starving for superiority or self-assertion which leads a person with an attitude of inferiority to seek to compensate.

यह हीनता की भावना जब और अधिक उग्र रूप धारण कर लेती है, तब आदमी स्वयं को दूसरों की अपेक्षा हेय अनुभव करता है । उसके मन में श्रेष्ठतम प्राप्त करने की प्रतिस्पर्द्धा जाग्रत हो उठती है, यही स्पर्द्धा उसे हीनत्वभाव से मुक्ति दिलाने के लिए प्रेरित करती है । एडलर की साहित्य-सम्बन्धी कोई मान्यता उपलब्ध नहीं है ।

**मनोविश्लेषणवाद और हिदी आलोचना** – डॉ. कृष्णवल्लभ जोशी के अनुसार –

**डॉ. नगेन्द, इलाचन्द्र जोशी और अज्ञेय प्रमुख रूप से इससे प्रभावित रहे हैं । डॉ. नगेन्द्र ने तो छायावाद को काम प्रेरित माना है ।**

**3. अस्तित्ववाद की परिभाषा देकर इसकी मुख्य विशेषताओं का उल्लेख कीजिए ।**

**अथवा**

**अस्तित्त्ववाद की आधारभूत धारणों पर प्रकाश डालते हुए इसके उद्‌भव और विकास वर्णन कीजिए ।**

उत्तर – अंग्रेज़ी के (Existence) शब्द का भाव लिये हुए 'अस्तित्व' शब्द से

ही अस्तित्ववाद प्रकट हुआ। अस्तित्ववाद शब्द को जर्मन (Existenz Philosophy) का अनुवाद भी माना जाता है। The Dictionary of Philosiphy के अनुसार – अस्तित्ववाद का अर्थ है–जीवित रहने की वह स्थिति जो अन्य वस्तुओं के साथ होने वाले समायोजन में निहित है।

सामान्य परिचय – उन्नीसवीं शताब्दी में मानव-जीवन पर विज्ञान एवं सामाजिक सिद्धान्तों का व्यापक प्रभाव पड़ा और व्यक्ति की स्वतन्त्रता उपेक्षित होने लगी। प्रतिक्रियास्वरूप एक ऐसे जीवन दर्शन का विकास होने लगा जो व्यक्ति की वैयक्तिकता एवं स्वतन्त्रता को सर्वाधिक महत्त्व प्रदान करता है। यह जीवन-दर्शन अस्तित्ववाद कहा जाता हैं अस्तित्ववाद पर्याप्त विवाद एवं चर्चा का विषय रहा है। इसके प्रवर्तक ज्याँ पॉल सार्त्र ने इस सम्बन्ध में लिखा है–

**जो लोग इस शब्द का प्रयोग करते हैं, उन्हें यदि इसकी व्याख्या करनी पड़े तो उनमें से अधिकांश असमंजस में आ जायेंगे। अब भी यह शब्द सभी की जवान पर है–यहाँ तक कि संगीतकार या चित्रकार की रचना को भी अस्तित्ववाद कहा जा रहा है।**

अस्तित्ववाद मूलतः अग्रलिखित तीन आधारों पर आधारित है–

(1) मानव – मानव-सृष्टि तथा इस संसार में उसके आगमन के पीछे कोई प्रयोजन निहित नहीं है।

(2) मनुष्य को इस निरर्थक और आयोजित संसार में अपनी इच्छा के बिना आना पड़ा है।

(3) इस अस्थिर-चंचल संसार में फेंके जाने के बाद यथेच्छ कर्म करना और अपने अस्तितव को अर्थ में एवं प्रयोजनमण्डित करना मनुष्य का उत्तरदायित्व है।

डॉ. प्रताप नारायण टंडन ने लिखा है–

**यह दर्शन विभिन्न विरोधों का दर्शन है तथा युग की विचारधारा का प्रतिनिधित्व करता है।**

अस्तित्ववाद इस विचारधारा का विरोध करता है कि मानव अस्तित्व सप्रयोजन सार्थक और योजनाबद्ध है। वह उन समस्त परम्परागत, तर्कसंगत एवं दार्शनिक मतवादों के विरुद्ध एक विद्रोह है जो विचारों अथवा पदार्थ जगत् की तर्कसंगत व्याख्या करते हैं और मानवीय सत्ता की समस्या की उपेक्षा करते हैं।

इस प्रकार अस्तित्ववाद एक दार्शनिक मतवाद होते हुए भी वास्तव में समस्त परम्परागत एवं तर्कसंगत मतवादों के विरुद्ध विद्रोह है। इस विद्रोह का कारण यही है कि सभी परम्परागत दार्शनिक मतवाद विचारों और पदार्थ जगत् की तो तर्कसंगत व्याख्या करते हैं, किन्तु मानवीय सत्ता की सर्वथा उपेक्षा करते हैं।

**उद्‌गम और विकास** – अस्तित्ववाद का मूलाधार मनुष्य की अवस्था, असहायता एवं निरुपायता को माना गया और विश्व-युद्ध ने यह प्रमाणित कर दिया कि मानव का अस्तित्व नगण्य है। अतः अस्तित्ववाद अपने पूरे आवेग से उभरकर सामने आया, पर इसके चिन्तन के स्रोत बहुत पहले से विद्यमान थे।

मनुष्य के ऊपर विधि-निषेध एवं धर्म-बन्धन इतने बढ़े कि मानवीय सत्ता का अस्तित्व ही समाप्त हो गया। इसके विरोध में डेनिश चिन्तक सारेन कीकेंगार्ड (1813-1855) ने आवाज़ उठायी। वे आदर्शवादी चिन्तक हीगेल के घोर विरोधी थे। ये आदर्श से दबे मानव को स्वच्छन्द बनाना चाहते थे और वैयक्तिक स्वच्छन्दता का पक्षधर तो अस्तित्ववाद है ही।

चूँकि यह एक विकासवादी परम्परा स्वीकार की गई है, अतः इसके साथ कई नामों का उल्लेख किया गया है। हम यहाँ कुछ मुख्य नामों की चर्चा कर रहे हैं–

**(1) एडमण्ड हर्सल** (Edmund Hurssel, 1859-1938) – इनके द्वारा प्रतिपादित धरना क्रिया-विज्ञान को भी इसका स्रोत स्वीकार किया जाता है।

**(2) जर्मन दार्शनिक फ्रेडरिक नीत्से** (Fredrich Nietzsche, 1844-

1900) ये अनीश्वरवादी थे। इनके अनुसार 'God is Dead' इन्होंने नैतिक मान्यताओं का प्रबल विरोध तो किया ही—इन्होंने पूर्ण वैयक्तिक स्वच्छन्दता के आधार पर अति मानवीय गुणों से सम्पन्न 'सुपर-मैन' की कल्पना भी की।

इस सम्बन्ध में चूँकि इसका मूलोद्‌गम निश्चित नहीं है, इसलिए यह विवादित है कि इसका प्रारम्भ कब से स्वीकार किया जाये। डॉ. राधाकृष्णन् Histry of Philosophy East and West अस्तित्ववाद का सम्बन्ध उपनिषद् और बौद्ध धर्म की आत्मज्ञान सम्बन्धी प्रपत्तियों से स्थापित करते हैं।

अस्तित्ववाद अपने वर्तमान अर्थ में 19वीं शती के मध्य की उपज है, जिसने व्यापक रूप प्रथम विश्व-युद्ध (1914-1919) के बाद धारण किया और जिसकी पृष्ठभूमि में औद्योगिक क्रांतिजनित वह भौतिकता थी, जो मनुष्य-अस्तित्व की अवहेलना कर उसे निर्मूल कर रही थी। मनुष्य के अस्तित्व के इस अवहेलनात्मक सामाजिक दृष्टिकोण की यूरोप की युद्धकालीन विभीषिकाओं ने और अधिक घनीभूत किया, जिसकी प्रतिक्रिया यह हुई कि कुछ चिंतकों ने परम्परागत सामाजिक एवं धार्मिक मूल्य-मान्यताओं को निष्प्राण घोषित कर विशुद्ध मानवीय मूल्यों की स्थापना का प्रयास किया। इन चिन्तकों में जर्मन के फ्रेडरिक नीत्से, कार्ल जेस्पर्स, मार्टिन हेडगर, फ्रांस के गेब्रियल मार्सल, ज्याँ-पाल सार्त्र, अल्बर्ट कामू आदि के नाम उल्लेखनीय हैं।

**अस्तित्ववाद का स्वरूप** – अस्तित्ववाद की कोई सर्वमान्य परिभाषा उपलब्ध नहीं है। उसके पक्षधरों ने जो कुछ कहा और उनके वक्तव्य पर जो कुछ विद्वानों ने जो कहा, उससे ही उसकी मान्यताओं को खोजा जा सकता है।

**व्यक्ति स्वातन्त्र्य और गरिमा का प्रतिपादन इसका मूलाधार माना गया है।**

अमेरिकन विश्व कोश के अनुसार—

**मनुष्य और उसकी स्वतन्त्रता की समस्या को केन्द्र मानकर चित्रण करना ही आधुनिक अस्तित्ववाद का मूलाधार है।**

**अस्तित्ववाद का दर्शन** – मध्यकाल के तत्त्व-चिन्तन को मानव से अधिक महत्त्वपूर्ण माना गया। उन मान्यताओं की प्रस्थापना हेतु मानवीय स्वच्छन्दता का गला घोंटा गया। अस्तित्ववादी दर्शन कहता है कि मनुष्य पहले आया, फिर चिन्तन उभरा। अतः मनुष्य महत्त्वपूर्ण है। उसके अस्तित्व के अभाव में ये सारे चिन्तन व्यर्थ हैं।

मानव अस्तित्व को सर्वोपरि मानने के कारण, किसी प्रकार के चिन्तन, सिद्धान्त और नियम में उनकी कोई आसीा नहीं हैं वे स्पष्ट स्वीकार करते हैं कि कोई भी शास्त्र, ज्ञान, दर्शन, चिन्तन यदि मानवोपयोगी व्यक्ति के अस्तित्व को स्वीकारता है, तभी सार्थक है, क्योंकि इनका मूलाधार वैयक्तिक स्वच्छन्दता है, अतः वे दुःख और मृत्यु को भी वरीयता देते हैं। यदि आत्म-स्वातन्त्र्य पीड़ा भोगकर भी मिलता है और परतन्त्रता सुख भोगकर मिलीत है, तो उन्हें पीड़ा वरेण्य है।

ईश्वर के प्रश्न पर इनके दो वर्ग हैं—आस्थावादी तथा अनास्थावादी। अनास्थावादी तो स्पष्ट कहते हैं कि 'ईश्वर मर गया।' ये ईश्वर के इसलिये विरोधी हैं कि उसी के नाम पर सारे निषेध लगाये जाते हैं, जो इन्हें स्वीकार नहीं है, क्योंकि ये तो सभी परम्परागत आस्थाओं, नैतिक नियमों, जीवन-विश्वासों आदि के प्रबल एवं घोर विरोधी हैं। ये ज्ञान-विज्ञान के महत्त्व को भी स्वीकार नहीं करते, क्योंकि यह भी एक तो स्वच्छन्दता का बाधक है दूसरे, इनसे व्यक्ति का क्या भला हो सकता है, क्योंकि वे तो कुछ भी करने की स्वतन्त्रता के पक्षधर हैं। इस स्वतन्त्रता के लिए पीड़ा और मृत्यु से भी उन्हें परहेज नहीं था। वे इच्छानुसार 'चयन की स्वच्छन्दता' और 'वैयक्तिक उपभोग की स्वच्छन्दता' के पक्षधर थे। अतः अराजकता, उन्मुक्त भोग, यौनाचार, नास्तिकता, असामाजिकता, आचार-विरोध अनाचार के भी पक्षधर थे।

परम्परागत धारणा के अनुसार सृष्टि में पहले विचार का उदय हुआ, फिर पदार्थ का। इसी आधार पर प्लेटो ने विचारवाद का समर्थन किया। अस्तित्ववादी चिन्तन ठीक इसके विपरीत है। तत्त्ववादी की दृष्टि में तत्त्व

शाश्वत और भौतिक जगत् क्षणभंगुर है। अस्तित्ववादी वस्तु-व्यक्ति को महत्त्व देता है।

**अस्तित्ववाद की आधारभूत धारणाएँ** – अस्तित्ववाद की मुख्य धारणाएँ अग्रलिखित हैं–

**(1) व्यक्ति की महत्ता** – व्यक्ति प्रमुख है, समाज गौण। 'मनुष्य अपने आपको बनाता है, इसके अतिरिक्त वह कुछ नहीं है' व्यक्ति की महत्ता के साथ वे वैयक्तिक स्वच्छन्दता के भी प्रबल पक्षधर हैं। वे विद्रोह को ही सच्ची वैयक्तिक स्वच्छन्दता मानते हैं। उनके अनुसार जीवन की निरर्थकता के प्रति विद्रोह को ही सच्ची वैयक्तिक स्वच्छन्दता मानते हैं। उनके अनुसार जीवन की निरर्थकता से उनका तात्पर्य बन्धनों से है, फिर वे चाहे किसी प्रकार के हों।

**(2) क्षणवाद** – अस्तित्ववादी मानव के स्थायी रूप की कल्पना नहीं करते, अतः वह क्षणभंगुर है। साथ ही क्षण की महत्ता इस अर्थ में भी है कि सत्य खोजने की प्रक्रिया को गतिशील बनाता है। यह क्षण आदमी को प्रत्येक क्षण पुनः सर्जित करता है, गतिमान बनाता है। अतः वह उपेक्षणीय नहीं है। क्षण में जीना तभी सम्भव है जब भय और मोह से मुक्ति प्राप्त हो सके।

**(3) सामाजिकता** – मनुष्य अपूर्ण है, परन्तु समाज के लिए महत्त्वपूर्ण हैं इस धारणा के पीछे लोक-कल्याण की अवधारणा झाँकती हुई दिखाई देती है। सार्त्र के अनुसार–

> **जब हम कहते हैं कि मनुष्य अपने लिए उत्तरदायी है, तो वास्तव में हमारा यह अभिप्राय नहीं होता कि वह केवल अपने लिए उत्तरदायी है। वह केवल अपने अकेले व्यक्ति के लिए नहीं उत्तरदायी है, बल्कि होता यह है कि वह सब मनुष्यों के लिए उत्तरदायी है।**

**(4) निरपेक्ष नास्तिकता** – अस्तित्ववादी ईश्वर की सत्ता की समस्या को मानव-सत्ता के प्रश्न से असम्बद्ध समझता है। धर्म, ईश्वर और व्यक्ति के पारस्परिक सम्बन्धों के सन्दर्भ में ऊहापोह (विचार-विमर्श) करने के उपरान्त

सार्त्र ने अस्तित्ववादी आस्तिकता को वस्तुतः निरपेक्ष माना। अस्तित्ववाद ईश्वर की सत्ता है भी तो उससे कुछ अन्तर नहीं होता। इसका आशय यह नहीं है कि हम विश्वास करते हैं कि ईश्वर है, बल्कि हम सोचते यह है कि ईश्वर की सत्ता का प्रश्न हमारी समस्या है ही नहीं।

**(5) स्वच्छन्दतावाद** – वे नियति की सत्ता नहीं मानते। मनुष्य अपने आपको स्वयं बनाता है, वह पूर्ण स्वतन्त्र है। वह इच्छानुसार मूल्यों के वरण हेतु भी स्वच्छंद है। उनके अनुसार किसी भी सिद्धान्त को सर्वांगीण, सार्वभौमिक या सार्वजनिक नहीं माना जा सकता। अतः अस्तित्ववादी के लिए समस्त परम्पराएँ, सामाजिक, नैतिक एवं वैज्ञानिक मान्यताएँ अमान्य एवं अव्यावहारिक है।

**(6) एकाकीपन** – उनके अनुसार मनुष्य को अपने अनन्त उत्तरदायित्वों के मध्य इस पृथ्वी पर असहाय और अकेला छोड़ दिया जाता है। अतः मनुष्य अपने कर्मों की समष्टि के अतिरिक्त कुछ भी नहीं है। एकाकीपन में वह निहित है और अपने अस्तित्व का वरण वह स्वयं करता है।

**(7) दुःखवादी कर्मवाद** – अस्तित्ववादी का कर्मवाद एकाकीपन का प्रतिपादक और लौकिक नीतिवाद का विरोधी है। वह एकाकीपन और पीड़ा को एक साथ स्वीकार करता है। अस्तित्ववाद का कहना है कि हमने जो चाहा, वह नहीं बन सके तो बदले में प्रत्येक प्रकार का दुःख, यहाँ तक कि मृत्यु को भी स्वीकार करने के लिए हम प्रस्तुत रहें। इस प्रकार अस्तित्ववादी को अपने अस्तित्व का बोध एवं जीवन-मूल्यों का ज्ञान दुःख या त्रास की स्थिति में होता है। अतः उसे इसके वरण हेतु सदैव तत्पर रहना चाहिए। अस्तित्व-बोध का सिद्धान्त दुःखवाद के सिद्धान्त पर निर्भर है। इसके अनुसार अपना अस्तित्व, अपनी वैयक्तिक स्वतन्त्रता एवं निजी लक्ष्य का चुनाव जितना महत्त्वपूर्ण है, उतना ही दुःख, निराशा, प्रस्तुत वेदना का भोग भी रुचिकर है। वह दुःख एवं पीड़ा को विवशता के रूप में नहीं, अपितु एक उपलब्धि के रूप में स्वीकार करता है।

**(8) समस्त आचार संहिता का विरोध** – अस्तित्ववादी धार्मिक, नैतिक

तथा चारित्रिक मूल्यों एवं नियमों के विरोधी हैं, क्योंकि ये ही वे तत्त्व हैं जो व्यक्ति की स्वतन्त्रता अथवा स्वच्छन्दता को नियमित, नियंत्रित अथवा बाधित करते हैं। अस्तित्ववादी का झगड़ा ईश्वर से न होकर उसके नाम पर निर्मित आस्थाओं, विश्वासों, नीति-नियमों आदि से है।

**(9) ज्ञान-विज्ञान का विरोधी** – अस्तित्ववाद की मान्यता के अनुसार सारे झगड़े की जड़ विभिन्न प्रकार के सिद्धान्त, मत, नियम आदि हैं और इनके नियामक ज्ञान-विज्ञान ही हैं। उनकी मान्यता है कि यदि हम अपने शब्द-कोश से प्रजातंत्र, साम्यवाद, समाजवाद आदि शब्द निकाल दें तो विश्व-युद्ध की आकांक्षाएँ सहज ही समाप्त हो सकती हैं।

**(10) मृत्यु का वरण** – अस्तित्ववादियों की मान्यता के अनुसार मृत्यु की उपयोगिता है। वह जीवन का शुद्ध तथ्य है, क्योंकि यहाँ पहुँचकर ही मनुष्य में निरासक्ति का भाव पैदा होता है तथा अपने अस्तित्व का सही ज्ञान भी होता है। भयभीत होते हुए जीवित रहने की अपेक्षा स्वतन्त्रता एवं स्वेच्छापूर्वक मृत्यु का वरण कर लेना अधिक श्रेयस्कर है, ताकि लोग यह तो स्वीकार करेंगे कि हमने स्वयं मृत्यु को स्वीकार किया है। ये मृत्यु से भयभीत न होकर उसके द्वारा स्वतन्त्रता की रक्षा की कामना करते हैं।

**(11) जीवन की समग्रता** – वे जीवन की समग्रता को पाप-बोध से मुक्त और सुख-दुःख के ऊपर उठ जाने वाली स्थिति मानते हैं।

**(12) गद्यात्मकता** – सात्रं की मान्यता है कि कलाकृतियों की अभिव्यक्ति विचारों के संसार में नहीं, वस्तुओं, विषयों, बिम्बों, रंगों एवं ध्वनियों के संसार में होती है। अतः विचारों की अभिव्यक्ति का माध्यम भी गद्य है। वे 'कवि' का प्रयोग भी परमपरागत रूप में नहीं करते। गद्य ही एक ऐसी विधा है जो अस्तित्ववाद के अंश 'व्यक्तिनिष्ठा' की अभिव्यक्ति में समर्थ होती है।

**अस्तित्ववाद की समीक्षा** – डॉ. देवीशरण रस्तोगी के अनुसार इसकी कुछ सीमाएँ इस प्रकार हैं–

**(1) एकांगिकता** – वस्तुगत संसार की महत्ता को पूर्णतः अस्वीकार कर देना और चिन्तन की वैज्ञानिक पद्धति अस्वीकृति चिन्तन की पद्धति में बाधक है–स्वेच्छाचारिता और एकांगिकता उन्मुक्त भोग की उद्दाम लालसा या फिर सामाजिकताशून्य एकांगिकता ।

(2) मानव प्रकृति का अनादर – इसकी दूसरी सीमा है–मानव-प्रकृति अर्थात् मनुष्य की मौलिक प्रकृति को समुचित आदर न देना । डॉ. देवराज (साहित्य और संस्कृति) के अनुसार,

> **अस्तित्ववाद जहाँ तक मनुष्य की सृजनशीलता और उसके व्यक्तित्व के निरालेपन पर गौर देता है, वहाँ तक वह हमें ग्राह्य है, लेकिन इससे आगे बढ़कर उसका यह कहना कि मानव-प्रकृति नाम की कोई चीज़ ही नहीं है, अतिरंजना है । यदि एक सामान्य मानव प्रकृति नहीं है, तो हमारी वासनाओं, प्रतिक्रियाओं में समानता कहाँ से आती है और कैसे हम परस्पर विचार-विनिमय कर पाते हैं? हम एक-दूसरे के तर्कों को कैसे समझते और स्वीकार कर लेते हैं? कैसे साहित्यकार और पाठकों के बीच भावों का प्रेषण हो पाता है? अस्तित्ववद विभिन्न मनुष्यों की इस आन्तरिक एकता को महत्त्व न देकर, केवल व्यक्तिगत निरालेपन पर गौर करता है, यह उसकी एकांगिता है ।**

**(3) वैचारिक ऐक्य का अभाव** – अस्तित्ववादी विचारकों में असमानता पाई जाती है । ईश्वर के सत्ता के आधार पर आस्तिक-नास्तिक दो वर्ग हैं । इसके अतिरिक्त आस्थावादी विचारक मूल्यों (जीवन-मूल्यों) को अवतार मानते हैं और उनके मतानुसारा परमपरा से प्राप्त मूल्य ही चयन की स्थिति का नियंत्रण करते हैं । इसके विपरीत, अनास्थावादी दार्शनिक (नीत्से, सार्त्र) मूल्यों को मानव-निर्मित मानते हैं । वे स्वतन्त्रता को ही सर्वोपरि मूल्य ठहराते हैं और उसी को अन्य मूल्यों का नियामक भी मानते हैं ।

निष्कर्षतः कहा जा सकता है कि अस्तित्ववाद में व्यक्ति का चित्रण साधारण की अपेक्षा विशेष है और यह आत्मगत विवेक पर विशेष बल देता

है । लेकिन, साथ ही, इसमें जो उत्तरदायित्वहीनता पाई जाती है, उसके कारण यह उच्छृंखलता को ही जन्म देता है । फिर भी, यह निर्विवाद है कि इस दार्शनिक सिद्धान्त ने साहित्य को पर्याप्त प्रभावित किया है और अपने शुद्ध रूप में यह एक महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त है, क्योंकि, यह व्यक्ति को अपने निर्माण और आदर्श-निर्धारण के लिए स्वतन्त्र छोड़ देता है ।

**4. संरचना को स्पष्ट करते हुए संरचनावाद एक उत्तर संरचनावाद का उल्लेख कीजिए ।**

**अथवा**

**संरचनावाद के उद्‌गम एवं विकास का उल्लेख कीजिए ।**

उत्तर – शैली विज्ञान साहित्य के अध्ययन की एक आधुनिक पर विशिष्ट भाषिक प्रणाली और तकनीक है । वस्तुतः भारतीय काव्यशास्त्र में भी 'काव्यात्माविमर्श' के विषय में अलंकार, रीति, वक्रोक्ति, ध्वनि आदि सम्प्रदाय अपनी मूल प्रकृति में भाषिक ही थे । संरचना और संरचनावाद भाषिक दृष्टि से ही साहित्य के मूल्यांकन के प्रतिमान हैं जो प्रकृति में अत्यंत जटिल तो हैं ही, बहुत कुछ अस्पष्ट और अप्रमाणित भी हैं । विखंडनवाद, संरचनावाद, उत्तर-संरचनावाद, स्त्रीवाद, विचारवाद, उत्तर-औपनिवेशिकता आदि पदबंध अब जैसे एक दूसरे में इतने घुल-मिल गये हैं कि अपनी अर्थवत्ता खो चुके है । संरचनावाद को समझने के लिए सर्वप्रथम संरचना को समझना समीचीन होगा । डॉ. सत्यदेव मिश्र ने अपनी पुस्तक 'पाश्चात्य काव्यशास्त्र, अधुनातन सन्दर्भ' में लिखा है–

संरचना एक साक्यव या संगतिनिष्ठ साकल्य के रूप में होती है । वह किसी वस्तु व्यवस्था या साहित्यिक कृति की हो सकती है । यहाँ साहित्यिक कृति के साकल्य का सन्दर्भ प्रयोज्य है । संरचना अथवा संघटना का रूपाकार विभिन्न तत्त्वों के मध्य अन्वय संबंधों पर निर्भर करता है । ये अन्वय-सम्बन्ध अन्विति के प्रकार्यों पर निर्भर होते हैं । चूँकि प्रकार्य अमूर्त होते हैं अतः संरचना की प्रकृति भी अमूर्त होती है । संरचना की प्रकृति सी अमूर्त होती है । संरचना को इसी अमूर्त संकल्पनात्मक प्रकृति के फलस्वरूप संरचना स्वयं में

प्रेक्षणीय नहीं होती। किन्तु उसाक परिज्ञान प्रेक्षण-प्रक्रिया द्वारा ही किया जाता है जो दो प्रकार की होती है– भाववादी या विचारवादी और वस्तुवादी। भाववादी प्रक्रिया द्वारा ही किया जाता है जो दो प्रकार की होती है–भाववादी या विचारवादी और वस्तुवादी। भाववादी प्रक्रिया के मानने वाले विद्वानों का मत है कि अमूर्तीकरण की प्रक्रिया मानसिक होती है। अतः समीक्षक किसी वस्तु की अभ्यंतर प्रकृति को स्वयं समझना चाहता है और उसकी व्याख्या भी स्वयं की गई आत्मगत व्याख्या होती है। वस्तुवादी प्रेक्षण प्रक्रिया के समर्थक विद्वानों का मत है कि संरचना का केन्द्रक व्यक्ति न होकर वस्तु (कृति) होती है। अतः संगतिनिष्ठ कृति के उपांगों में अन्वय सम्बन्धी व्यवस्था विद्यमान रहती है। इस प्रकार संरचना प्रच्छन्न रूप से कृति की आंगिकता में निहित रहती है जो वस्तु का गुण है। अतः समीक्षक को कृति की अन्वय-समबन्धी व्यवस्था व्यवस्था की पहचान करनी चाहिए। संरचना सम्बन्धी अवधारणा तीन आधारभूत तथ्यों की ओर संकेत करती है।

**(1) अखण्डता** – इसका संबंध आंतरिक संगति से है। रचना में अपने संघटक उपांगों में एक विशिष्ट अन्विति (एकता) होती है जो विशिष्ट अर्थ देती है। कृति के संघटक तत्त्वों – शब्द, पदबंध, वाक्य संरचना, वाक्य विन्यास आदि में विपर्यास या परिवर्तन करने से अर्थ परिवर्तन हो जाता है।

**(2) प्रयोजन** – संरचना अपनी अर्थवत्ता से जुड़ी रहती है। यह प्रयोजन मूलक प्रकार्य संरचना का संघटक तत्त्व होता है। यही कारण हे कि संरचना का परिवर्तन शब्दार्थ के परिवर्तन को इंगित करता है।

**(3) स्वायत्तता** – संरचना अपनी सत्ता हेतु किसी की मुखापेक्षी नहीं होती, वह स्वायत्त होती है, बाहरी किसी अन्य वस्तु पर आधारित नहीं। काव्य साहित्य का संदर्भ लें तो कहा जा सकता है कि संरचना का अर्थ अर्थात् उसकी संघटक युनिटों का अर्थ बाहर जाकर प्रमाणित नहीं होता, वरन् संरचना के संघटक तत्त्वों के घात-प्रतिघात से ही मूर्तिमान होता है।

**संरचनावाद** – वास्तव में संरचनावाद का मूलाधार प्रसिद्ध भाषाविद् सस्यूर का भाषा सम्बन्धी अध्ययन है। भाषाविज्ञान के सातत्य (सदा का

भाव) में जिस शैली विज्ञान का विकास हुआ और साहित्याध्ययन के लिए कृति के भाषागत स्वरूप, उसकी भाषिक संरचना पर जो बल दिया गया, उसी से संरचना, संरचनावाद आदि पृथक् अवधारणाएँ निर्मित हुई और कालान्तर में ये अवधारणाएँ पश्चिम में प्रत्ययवादी भाषा-दर्शन के रूप में विवाद का विषय बनीं। संरचनावाद का गहरा सम्बन्ध भाषा से है। जॉन लॉक का मत है कि भाषा का स्वरूप बड़ा जटिल है क्योंकि भाषा में अर्थहीन शब्द भी हो सकते हैं और सार्थक भी। शब्दों का सामान्य अर्थ में भी प्रयोग हो सकता है और पर्यायगत भेद के आधार पर विशिष्ट अर्थ में भी। शब्द संकेतन का कार्य भी कर सकते हैं। संकेतन में नैरंतर्य (निरन्तरता) भी हो सकता है। भाषा के इस विविधरूपी आयाम और व्यापार की दृष्टि में रखकर ही वाल्टर बेन्तामिन का कहना है–

**मनुष्य की भाषाओं के अतिरिक्त भी भाषाएँ मनुष्य जानता है किन्तु उनका नामकरण अब तक नहीं किया जा सका है।**

इन विद्वानों की मान्यताएँ एक ओर भाषा के जटिल स्वरूप की ओर संकेत करती हैं तथा दूसरी ओर भाषा के संकेतन प्रधान रूप की ओर। सस्सूर भाषा के दो तत्त्वों का उल्लेख करता है– (1) परोल वचन अथवा उच्चार जो भाषा का भौतिक और कार्यकारी पक्ष है, (2) लैंगुइ भाषा का मनोवैज्ञानिक पक्ष है। भाषा के नियम अमूर्त और तर्कातीत होते हैं, जिनसे प्रयोक्ता का वाक् (वचन या उच्चार) नियंत्रित होता रहता है। इस प्रकार भाषा वाक् में ही खंडशः मूर्त मानी जा सकती है। इस लैंगूइ और परोल अर्थात् भाषा और वाक् की प्रक्रिया ही संरचना और संरचनावाद के मूल में हैं मानवशास्त्री लेवी स्त्रीस ने अपने संरचनावादी दृष्टिकोण को सस्सूर से प्रेरित होकर ही स्थापित किया और आदिम मनुष्यों, कबीलों, मिथकों की संरचना की तलाश उसने की। संसार के अधिकांश मिथकों का अध्ययन करते हुए उसने उनके अलग-अलग रूपों को खोजा। यह भिन्नता यदि वाक् है तो मूल मिथक भाषा। इस प्रकार वाक् के आधार भाषा की तलाश ही संरचना का प्रारूप है।

वास्तव में संरचनावाद का सार तत्त्व रूपवाद में निहित है जिसमें भाषा के बाहर कछ भी अग्राह्य है । भाषा एक संघटक साकल्य है जिसके कई घटक या अवयक हैं । अवयव एक ओर अपने अगले अवयव से जुड़ा रहता है और साथ ही अवयवी से भी । संरचनावाद किसी वस्तु, कृति, घटना और समाज का अध्ययन इसी सावयवी पद्धति से करता है । रूपवाद के उद्‌गाता विक्अर स्क्लोवस्की माने जाते हैं । उन्होंने इसे शब्द की वापसी (1914) कहा तथा रूपवाद को साहित्य के रूप में साहित्याध्ययन की सम्पूर्ण पद्धति बनाने का प्रयत्न किया । रूसी रूपवाद मास्को के लिंग्विस्टिक सर्कल, पीट्‌र्सबर्ग के ओपोजा और प्राग-सम्प्रदाय आदि के विचारकों ने स्थापित किया । यद्यपि इस पर ट्रटस्की जैसे मार्क्सवादी समीक्षकों ने अपने ग्रंथ Literature and Revoluation में तीव्र प्रहार किये, फिर भी साहित्यालोचन की यह रूपनिष्ठ अर्थात् काव्यभाषानिष्ठ अवधारणा चल पड़ी । इस सम्प्रदाय का नई आलोचना के कुछ समीक्षकों रेनेवेलेक Theory of Literature 1949 आदि ने भी समर्थन किया और हिन्दी समीक्षा के सातवें-आठवें दशक में यह सिद्धान्त स्वीकृत हुआ । डॉ. नामवर सिंह की 'कविता के नये प्रतिमान' नामक पुस्तक पर रूसी रूपवाद का स्पष्ट प्रभाव दिखायी पड़ता है ।

संरचनावाद वास्तव में पद्धति ही नहीं है, इसमें दार्शनिकता का भी पर्याप्त अंश है । संरचनावाद का विकास बीसवीं शताब्दी के सातवें-आठवें दशक में फ्रांस में हुआ । संरचनावाद आज विश्व के बौद्धिक वातावरण में निर्णायक की स्थिति तक पहुँच गया है । आज सारे भूमण्डल में संरचनावाद का विकास हो रहा है । कुछ विद्वानों की मान्यता है कि संरचनावाद अतीत की बात हो चुकी है । इस समय उत्तरसंरचनावाद का युग चल रहा हैं यूरोप के वर्तमान चिन्तकों को संरचनावाद ने सबसे अधिक प्रभावित किया है ।

फूको ने यह स्वीकार किया है कि नीत्से का साहित्य पढ़ने के बाद ही मुझे इतिहासवाद और हीगेलवाद को छोड़ना आवश्यक प्रतीत हुआ । इतिहासवाद और हीगेल का द्वन्द्वात्मक होना विपरीत यात्रा के समान तीनों लेखकों लाकां, फूको और अल्युसर के क्षेत्र से अलग-अलग रहे । इन तीनों

की यात्रा बीसवीं शताब्दी के सातवें दशक से आरम्भ हुई लाकां का क्षेत्र मनोविज्ञान, फूको का संस्कृति और अल्युसर का सिद्धान्त था ।

यह सभी पर स्पष्ट हो चुका है कि सासुर न जो संरचनावाद आरम्भ किया, उसमें भाषा के अर्थ को भेदने वाला संजाल है । व्यंजक और व्यंग्य के मध्य एक-एक का अर्थात् समान सम्बन्ध नहीं है । शब्दों को एक-दूसरे से अलग करने का कार्य ध्वनि और बोध की भिन्नता है । भाषा की निर्भरता भेदों की संरचना पर है । भाषा में शक्ति की असीमता होना संरचना पर ही निर्भर है । संरचना के अभाव में भाषा की असीमता समाप्त हो जायेगी । आधुनिक भाषा विज्ञान का आधार भाषा की यह संरचना ही बनी है । संरचना के रूप में भाषा विज्ञान एक निश्चित आधार प्राप्त कर सकता था । एक-दूसरे पर निर्भर होने का आधार व्याकरण था । व्याकरण पर ये दोनों तत्त्व निर्भर रहे हैं । यह मान्यता सिन्क्रोनी की है । संरचनावाद के तन्त्र ने स्वाभाविक रूप से उन्नीसवीं शताब्दी के इतिहासवादी भाषा विज्ञान को हाशिये पर पहुँचा दिया । इसे अंग्रेज़ी में डाइक्रोनिक फाइलोलॉजी कहा जाता है । भाषा की आम व्यवस्था और स्वतन्त्र वाक् में भेद स्पष्ट करने का कार्य सासूर ने किया ।

इसका प्रभाव सांस्कृतिक चिन्तन पर पड़ना अनिवार्य था । इस समय अर्थात् संरचनावाद के समय में संस्कृति से सम्बन्धित सभी रूपों का अध्ययन व्याकरण के रूप में होने लगा । इस प्रकार भाषा विज्ञान ने यह दावा किया कि वह मानव विज्ञान के सभी पहलुओं को समझता है । भाषा के बीच में वाचक की भूमिका अन्तिम रूप से केन्द्रीय थी । जो परोल अर्थात् स्वतन्त्र वाक् का प्रयोग करता है, उसे प्रमुखता प्राप्त होती है । जिसे वाचक कहा गया है, वही प्राचीन काल से लेखक कहा जाता रहा है । देरिदा ने इसे संरचनावाद का भीतरी रोग घोषित किया है । देरिदा ने प्रश्न उपस्थित किया है कि हम उस वाक् या भाषा को कितना स्वतन्त्र कर सकते हैं और उसे कितनी विशिष्टता प्रदान कर सकते हैं जो स्वयं व्याकरण के रूप में भाषा की उपस्थिति घोषणा करती है । सासूर के चिन्तन में यह अन्तर्विरोध छिपा हुआ है । इस अवधारणा

में भाषा की उपस्थिति व्याकरण के रूप में नहीं है । अर्थ की आवश्यकता और अनिवार्यता स्वतन्त्र भाषा को रहती है । सासूर ने अपने साहित्य में इस तथ्य को उजागर न करके दबाये रखा है । सासूर का यह चिन्तन आपत्तिजनक है कि वाक् की अपेक्षा लेखन लघु है और कम महत्त्वपूर्ण है ।

देरिदा की यह मान्यता है कि यह दुष्परिणाम पश्चिम के तत्त्वदर्शन का है । इसे देरिदा ने सासूर की संरचनावादी अवधारणा की भयानक सीमा घोषित किया है । देरिदा ने यह विश्वास किया है कि भाषा की पहली शर्त है—लेखन । लेखन की उपस्थिति वाक् से पूर्ववर्ती है, इस कारण लेखन को दूसरे दर्जे का नहीं माना जा सकता । देरिदा लेखन को एक स्वतन्त्र खेल अथवा लीला मानते हैं । लीला और अनिश्चय का यह तत्त्व संचार के प्रत्येक रूप में उपस्थित रहता है । इस आधार पर लेखन अर्थ का अनन्त स्थानान्तरण है तथा यह भाषा का अनुशासनकर्त्ता है । वह भाषा को कहीं भी अकेली नहीं छोड़ता है । लेखन भाषा को प्रामाणिकता प्रदान करता है । इस प्रकार वाक् अथवा वाणी को भी सामान्य लेखन कहा जा सकता है । लिखित भाषा को सदैव प्रकरण तथा भेदक संकेतों का संजाल कहा जा सकता हैं वाक् करने वाला अर्थात् भाषा को बोलने वाला अकेला समझने में असमर्थ रहता है ।

तात्पर्य यह है कि जो भाषा को लिखता नहीं, केवल बोलता है, वह समझ नहीं सकता । जो लोग भाषा को स्वयंभू अर्थात् अपने आप उत्पन्न होने वाली कहते हैं, वे वास्तव में भाषा के लेखन से भयभीत हैं । वे भाषा को लिखना नहीं चाहते, वे भाषा को लिख नहीं सकते । यह लेखन से डरने की प्रवृत्ति है और यह प्रवृत्ति पश्चिम में विशेष रूप से पायी जाती हैं संरचनावाद के मूल में शब्द और अर्थ की समस्या है । शब्द की उत्पत्ति पहले हुई और अर्थ उससे बाद में जुड़ा अथवा अर्थ की उत्पत्ति पहले हुई और शब्द उससे बाद में संयुक्त हुआ । देरिदा ने पश्चिमी दर्शन की खोज करके यह घोषणा की है कि लेखन को द्वितीय श्रेणी का सिद्ध करना पश्चिम के दर्शन में देखा जा सकता हैं यह चिन्ता केवल पश्चिमी दर्शन की है कि अर्थ यदि अपने आप ही प्रगट हो गया होता अर्थात् अर्थ स्वयंभू होता तो भाषा हमारी दासी बन जाती । उस

स्थिति में भाषा हमारे लिए समस्या न बनकर हमारे विचारों का वहन करने वाली बन गई होती। इस प्रकार देरिदा ने भाषा और अनर्थ के सम्बन्ध में परिवर्तन ही नहीं कर दिया है, अपितु उसे पूरी तरह उलट दिया है।

सासूर ने संरचना को उस बिन्दु तक पहुँचा दिया कि वह स्वयं अपने में ही वन्दिनी बन गई। सासूर भाषा की बात करने चले थे, पर उन्होंने भाषा को दबा दिया। उन्होंने भाषा की अपेक्षा वाक् को प्रमुख ही नहीं, प्राथमिक भी बना दिया। वास्तविकता यह है कि लेखन वाक् से पूर्ववर्ती नहीं है, पर यह अवश्य है कि लेखन वाक् की अपेक्षा अधिक मौलिक है। आवश्यकता लेखन और वाक् की समीक्षा सही ढंग से करने की है। इसके अभाव में जनसमूहें अलग अथवा गलत आस्था का निर्माण हो सकता है।

संरचनावाद में एक अवधारणा रही है जो बहुत शीघ्र एक निश्चित पद्धति का रूप धारण कर लेती थी। इस अवधारणा के कारण पाठ एक पूर्व योजना में परिवर्तित हो जाता था। इस अवधारणा के कारण पाठ के अनिश्चित तत्त्व छूट जाते थे।

एपीरिया का अर्थ है – संशय। संशय की स्थिति लेखन में उस समय उत्पन्न होती है, जब लेखक छिपाने और बताने की दुविधा में फँस जाता है। वह छिपाना भी चाहता है और बताना भी चाहता है। वह निश्चय नहीं कर पाता कि मैं क्या करूँ।

इस प्रकार प्रेमचन्द के 'गोदान' को जमींदारी का पाठ कहा जा सकता है। जयशंकर प्रसाद की 'कामायनी' मनु के स्थान पर श्रद्धा का पाठ और आनन्दवाद के स्थान पर 'वेदना' का पाठ हो सकती है। तुलसीदास का 'रामचरितमानस' रामराज्य के स्थान पर कलियुग का पाठ हो सकता है।

नीत्से को नाजीवाद का पिता भी कहा जा सकता है। उसने हिटलर को उत्पन्न किया, हिटलर का निर्माण किया। नीत्से के विचारों में महामानव की खोज थी। उसके विचारों में शाश्वत पुनरावतार का तत्त्व विद्यमान था, जिसे अंग्रेज़ी में Enternal Reserach कह सकते हैं। नीत्से की विचारधारा का यह आदि तत्त्व था। इसी के कारण नीत्से की स्थिति अरक्षणीय बन गयी थी।

नीत्से ने पश्चिमी दर्शन की समीक्षा करके भाषा की सीमाएँ स्पष्ट की थीं ।

संरचनावाद ने पाठक का नया अवतार आरम्भ कर दिया था । यहीं से लेखन लेखक के केन्द्र से छूट जाता है और पाठक के बीच स्थान बना लेता हैं इस प्रकार पाठक की स्थिति लेखक के विरोधी की बन जाती है । संरचनावाद ने पाठक का यही नवीन अवतार आरम्भ किया । इसका कारण यह था कि संरचनावाद पाठ के भीतर पाठ को उत्पन्न करना चाहता था । यह भी सत्य हे कि लेखन के लिए पाठक की अनिवार्यता सदा रही है । लेखन कभी भी पाठक से मुक्त नहीं हो सकता ।

स्त्रीवादी पाठ – स्त्रीवादी पाठ का आरम्भ यहीं से हुआ । यह वाद उत्तर-संरचनावाद का अंग बन गया । अब जब लोग एक पाठक के रूप में पाठ के साथ चलने लग तो पाठ में अब तक जो अर्थ छिपे हुए थे, वे स्पष्ट होने लगे । इससे लेखक तक सीमित कुछ भी नहीं रह गया । लेखक ने इपने जो इरादे स्पष्ट किये थे, उन पर भी भरोसा नहीं रहा । इसके कारण सार्वभौम मानववाद समाप्त हो गया । एलेन शुवाल्टर ने अपनी पुस्तक 'स्त्रीवादी काव्यशास्त्र की ओट' में स्पष्ट किया–

**एक स्त्री के रूप में पढ़ने से पाठ में सक्रिय सैक्सीय संहिता की सार्थकता सरलता से आ जाती है ।**

स्त्री के पाठ की उत्पत्ति ने अनुभव की सम्पूर्णता को लेखन से हटा दिया और पाठक तक केन्द्रित बना दिया । पाठ में जो अर्थ होता है, उसका अर्जन करना पड़ता है । जो पुरुषवादी आलोचना है, वह इस अर्जन की उपेक्षा करती है । अब तक जो आलोचना हुई, वह पुरुष लेखक के इस इरादे को सभी के लिए समान हितकारी मानकर चली है । इस अवधारणा को उत्तर-संरचनावादी अर्थात् संरचनावाद के पश्चात् सत्ता में आने वाले पाठ ने समाप्त कर दिया । जो स्त्रीवादी पाठ है, वह सभी स्त्रियों से सरलता से कभी प्राप्त होने वाला नहीं है । इसका कारण यह है कि स्त्रियों को लिंग भेद अर्थात् पुरुषों से भिन्नता की भावना सदैव सचेत नहीं करती रहती है ।

यह सचेत न हाना पुरुषवादी आलोचना से अलग होना नहीं है । स्त्री

जब पुरुषों की भाषा में अपने आपको व्यक्त करती है तो उसे पुरुषत्व की भावना से तादात्म्य अर्थात् एकरूपता स्थापित करनी पड़ती है । यह तादात्म्य अर्थात् एकरूपता लिंग भेद का दमन कर देती है । स्त्रीवादी समीक्षा और स्त्रीवादी पाठ के बाद साहित्य के पाठ की अवधारणा में परिवर्तन आ जाता है । कारण यह है कि अब तक जो समीक्षा तत्त्व रहा था, वह मौलिक रूप से पितावादी अथवा पुरुषवादी रहा था, इसके कारण लेखक की भूमिका पितामह के समान रही । तात्पर्य यह है कि पुरुष की स्थिति में अथवा स्वयं को पुरुष मानकर जो समीक्षा प्रस्तुत की गयी, उसमें लेखक पिता ही नहीं रहा अपितु पिता का भी पिता अर्थात् पितामह बन गया । लेखक की इस भूमिका ने ही अर्थ को वैध बनाया है । तात्पर्य यह है कि लेखक ने पुरुष के समान सशक्त और अधिकारी समझकर जो आलोचना लिखी, उसका जो भी अर्थ या तात्पर्य था, वह वैध अर्थात् उचित या विधिसम्मत था, यह भावना निर्मित हुई ।

जब स्त्रीवादी समीक्षा आरम्भ हुई अर्थात् जब लेखक ने कोमल स्वर में समीक्षा या आलोचना प्रस्तुत की, तब जिस समीक्षा ने लेखक को मर्द के रूप में स्थापित किया था, उस लेखक के सामने स्त्रीवादी समीक्षा ने एक बड़ी चुनौति प्रस्तुत कर दी। संरचनावाद के बाद जो स्थिति गई, उसे उत्तर-संरचनावाद कहा जाता हैं उस स्थिति अर्थात् उत्तर-संरचनााद ने लिंग भेद को तेज कर दिया तथा स्त्रीवादी पाठ को विशेषता प्रदान की ।

**5. शैली-विज्ञान के स्वरूप का निर्धारण करते हुए इसकी मुख्य विशेषताओं का वर्णन कीजिए ।**

उत्तर – साहित्य में अनेक प्रकार की आलोचना-पद्धतियाँ विकसित हुई जिनमें सिद्धान्त और प्रभाव दोनों का सम्मिश्रण रहा हैं इस कारण प्रायः यह देखने में आया है कि किसी कृति को पढ़कर कोई पाठक या आलोचक रसमग्न हो सकता है तो दूसरा उसमें रसमग्न होने के बजाय उसे निकृष्ट माना जाता है, क्योंकि वह कृति उस पर उतना प्रभाव नहीं डालती, जितना वह पहले पाठक पर डालती है । यह तथ्य यह स्पष्ट करता है कि आलोचना के जो आधार बनाये गये, उनको सर्वमान्य स्वीकृति नहीं मिल सकी । अतः प्रश्न यह

उभरा कि क्या कोई ऐसी पद्धति जो सर्वमान्य और वैज्ञानिक हो तथा जो मात्र कृति का ही विश्लेषण करे, सम्भव हो सकती है । शैली-विज्ञान इसी प्रश्न का समाधान करता है ।

डॉ. रवीन्द्रनाथ श्रीवास्तव ने अपनी पुस्तक 'शैली-विज्ञान और आलोचना की नई भूमिका' में लिखा है–

**आलोचना स्वयं में अनुशासन है, वह एक टेक्नीक है जो अपनी सिद्धि के लिए एक निश्चित कार्य-प्रणाली का विकास करती है । वस्तुतः आलोचना को वैज्ञानिक बनाने का अर्थ इस कार्य-प्रणाली को वैज्ञानिक बनाना है । अतः जब आलोचना की टेक्नीक और उस टेक्नीक की वैज्ञानिकता की बात उठती है तो उसका मतलब मुख्यतः साहित्य से है, उस कृति विशेष से है, जिसका अध्ययन आलोचक को वांछित रहता है और उस अध्ययन के लिए अपनाई गई उस कार्य-प्रणाली से है, जिसके सहारे वह साहित्यिक विशिष्टताओं पर प्रकाश डालता है ।**

आलोचना की विभिन्न पद्धतियों में से अधिकांश में साहित्य के काव्य की विभिन्न परिस्थितियों, प्रभावों, दर्शनों, चिन्तनों और कथ्य की विशिष्टिताओं आदि के साथ परखते हुए उसके कलागत वैशिष्ट्य को परखा गया । यह परख अपने में विशिष्ट और महत्त्वपूर्ण हो सकती है परन्तु शैली-विज्ञान यह मानता है कि इससे उसका सही परीक्षण सम्भव नहीं हो सकता । अतः रचना का उसके भीतर से ही मूल्यांकन शैली-विज्ञान का कार्य है, भले ही उसके प्रकार कुछ भी हों ।

**वस्तुनिष्ठ मूल्यांकन** – शैली-विज्ञान के मूल में यही प्रेरणा रही है कि कृति का अपने भीतर से ही मूल्यांकन हो और वह मूल्यांकन वस्तुनिष्ठ हो, भावात्मक नहीं । इस दृष्टि से जिस ओर सर्वप्रथम ध्यान गया, वह थी भाषा । डॉ. कृष्णकुमार शर्मा ''शैली-विज्ञान की रूपरेखा'' की मान्यता है–

**कुछ वर्ष पूर्व भाषिक और साहित्यिक अध्ययनों को परस्पर असम्बद्ध समझा जाता था । साहित्य के आलोचक तथा भाषा तत्त्वविद् एक-दूसरे को दो**

**विपरीत दिशाओं के पथिक मानते रहे हैं । किन्तु अब यह स्थिति नहीं है । अब यह स्वीकार किया जाने लगा है कि किसी भी कृति के मूल्यांकन हेतु भाषा-वैज्ञानिक, वस्तुनिष्ठ निष्कर्ष प्रस्तुत कर सकता है ।**

**शब्द और कविता का मूर्त अस्तित्व** – डॉ. शर्मा ने यह स्वीकार किया है कि कविता शब्दों को कला में रूपायित होती है, क्योंकि शब्द विशिष्ट संरचना में स्थान ग्रहण कर उस संरचना के प्रतिमन का निर्धारण करना है, इसीलिए कविता में प्रयुक्त शब्द यथार्थ वस्तु है । एक अच्छी कविता का प्रत्येक शब्द संरचना के संदर्भ में सोद्देश्य होता है । सम्पूर्ण संरचना से उसका सम्बन्ध होता है तथा इस सम्बन्ध व्यवस्था से प्रतिमान का निर्धारण होता है । इस प्रकार कविता भी एक वस्तु हो जाती है ।

प्रायः शब्द अपनी शक्ति, अर्थवत्ता और भाव-व्यंजना शक्ति लेकर ही कविता में स्थान पाता है । उसकी शक्ति को बढ़ाने में जहाँ विरामादि चिह्नों का योग रहता है,वहीं तुक, गति, प्रतीक, मुहावरे आदि जो शब्द-रूप में ही प्रयुक्त होते हैं, के प्रभावसे रचना भी अधिक प्रभावपूर्ण हो उठती है । जार्डन ने Essays in Criticism में यही स्वीकार किया है–

**शब्दों के अन्तः सम्बन्ध से निष्पादित वस्तु एक मूर्त अस्तित्व हैं अतः इस मूर्त अस्तित्व का ही विश्लेषण करना अपेक्षित है ।**

कविता के इस मूर्त अस्तित्व को और उसकी स्वतन्त्र सत्ता को अन्य आलोचकों ने भी स्वीकार किया है–

1. डेसमंड ग्राहम ने Introduction to Poetry में कहा है–

**कविता अपने में ही पूर्ण है, उसमें और किसी तत्त्व की तलाश व्यर्थ है ।**

2. अर्ल वास्सेरमन की मान्यता की व्याख्या करते हुए डॉ. कृष्ण कुमार शर्मा (शैली-विज्ञान की रूपरेखा) में कहते हैं–

**इस मान्यता का प्रस्तुत प्रसंग में महत्त्व यह है कि इसके अनुसार कविता भाषा के कलात्मक परिचालन के वैशिष्ट्य से निष्पन्न है । कला और साहित्य के सम्बन्ध में आधुनिकतम मान्यता यही है कि वह सम्पूर्ण तथ्य है, अस्तित्व है ।**

आज इसी सार्वभौम विश्लेषण पद्धति की आवश्यकता है। इसके विपरीत संदर्भों—देशकाल, वातावरण, विभिन्न प्रभाव, दर्शन-वाद-चिन्तन आदि के आधार पर किया गया विश्लेषण-विवेचन सार्वभौम कैसे हो सकता है? फिर यही प्रश्न बार-बार उठता रहेगा कि सूर सूर हैं, तुलसी शशी और आचार्य शुक्ल जैसे आलोचक छायावाद की उपलब्धियों को नकारते रहेंगे। इसी कारण इस वस्तुनिष्ठ पद्धति की ओर झुकाव हुआ।

**शैली-विज्ञान की अवधारणा**

(1) चार्ल्स बेली की मान्यता है—

**भावात्मक भाषा और सामान्य भाषा में स्तर-भेद होता है। इस स्तर-भेद के आधार पर कृति का अध्ययन करना ही शैली-विज्ञान का कार्य है।**

(2) डॉ. शर्मा ने मुद्दी की परिभाषा की व्याख्या करते हुए कहा है—

**शैली-विज्ञान एक आलोचक सिद्धान्त है। इस सिद्धान्त के अनुसार आलोचना की दृष्टि भाषावादी होती है और चिन्तन की दिशा वस्तुपरक। अतः इसमें सन्देह नहीं कि इस व्यापक दृष्टि से देखने पर साहित्य का सौन्दर्यशास्त्र और आलोचना सिद्धान्त शैली-विज्ञान में समाहित हो जायेंगे।**

**शैली की अवधारणा**

शैली-विज्ञान का कार्य शैली का अध्ययन करना है। अतः शैली के सम्बन्ध में भी कुछ जानकारी करना अपेक्षित है।

डॉ. कृष्णकुमार शर्मा (शैली-विज्ञान की रूपरेखा) की मान्यता है कि शैली की परिभाषा अनेक दृष्टियों से की गई है। प्रथमतः वे परिभाषाएँ हैं जो रचयिता की दृष्टि से शैली की प्रस्तुति करती है। गोथे शैली की रचना का उच्च और सक्रिय सिद्धान्त प्रतिपादित करते हैं। इसके द्वारा रचयिता अपने विषय के आन्तरिक रूप को प्रकट करता है। इस प्रकार कवि अपनी अनुभूति को समर्थ विधि से व्यक्त करने के लिए जिन उपादानों को ग्रहण करता है, वे सब शैली के अन्तर्गत आ सकेंगे।

द्वितीय प्रकार की परिभाषाएँ शैली को कृषिगत विशेषताएँ मानती हैं।

इन मान्यताओं के अनुसार शैली-विषयक अध्ययन कृति तक ही सीमित है। प्रमाता के समक्ष कृति ही होती है, अतः उसे कृति पर ही विचार करना चाहिए। जो कुछ प्राप्त करना है, कृति से ही करना है। कृति बाह्य किसी विचार की अपेक्षा नहीं है। आधुनिक शैली-विज्ञान शैली को इसी दृष्ट से देखता है।

एकविष्ट द्वारा व्यक्त शैली-विषयक धारणाओं को डॉ. शर्मा ने इस प्रकार प्रस्तुत किया है–

(1) पूर्वतः अस्तित्ववान विचार अथवा अभिव्यक्ति केन्द्र का आवरण शैली है।

(2) शैली अनेक विध अभिव्यक्तियों में से श्रेष्ठ चयन है।

(3) शैली वैयक्तिक वैशिष्ट्यों का समुच्चय है।

(4) सामूहिक विशेषताओं का समुच्चय शेली है।

(5) शैली उन भाषा-तात्त्विक इकाइयों का अंतः सम्बन्ध है, जिनका वाक्य की अपेक्षा काव्य-खण्ड के व्यापक सन्दर्भ में कथन किया जा सकता है।

डॉ. शर्मा ने इसके अतिरिक्त भी कुछ परिभाषाएँ देकर उनका विश्लेषण किया है। यहाँ हम संक्षेप में उनकी अवधारणा (शैली विज्ञान की रूपरेखा) को इस प्रकार प्रस्तुत कर रहे हैं–

(1) काव्य-संरचना में भाषिक इकाइयों के पुनरावर्तन का समुच्चय शैली है अथवा संरचना साँचों का अभिसरण शैली है।

(2) व्याकरण की सभी संभावनाओं का उपयोग शैली है।

(3) शैली अभिव्यक्ति केन्द्र अथवा विचार का आवरण है।

डिक्शनरी ऑफ वर्ल्ड लिटरेरी टर्म्स के अनुसार –

**Style consists in adding to a given thought all circumstance calculated to produce the whole effect that the thought ought to produce.**

**शैली विज्ञान का विकास** – इस विज्ञान को पाश्चात्य विचारकों की देन ही माना गया है, परन्तु डॉ. विद्यानिवास मिश्र इसके मूल-स्रोत भारतीय चिन्तन में ही खोजते हैं । यह बात हास्यास्पद हो सकती है, क्योंकि पश्चिम की किसी प्रस्थापित मान्यता के मूल को गुलामी की प्रवृत्ति से ग्रसित भारतीयों को भारतीय चिन्तन में खोजना रुचिकर नहीं रहा है ।

डॉ. मिश्र की मान्यता हे कि शैली शब्द इधर अंग्रेज़ी स्टाइल के रूप में प्रयुक्त हो रहा है । प्राचीन भारतीय साहित्यशास्त्र में रीति का प्रयोग और प्राचीन भारतीय नाट्यशास्त्र में वृत्ति का प्रयोग मिलता है । उनहोंने 'शैली' शब्द के प्रयोग को भी भारतीय चिन्तन से जोड़ा है । हमारे यहाँ स्थापत्य-कला, वास्तु-कला, चित्र-कला और नृत्य तथा गायन कला के साथ शैली का प्रयोग हुआ है । यथा—नागर शैली, गांधार शैली आदि । वामन ने विशिष्ट पद रचना रीति ही कहा है । अतः डॉ. मिश्र ने से रीति-विज्ञान मानते हुए इसकी जड़ को वामन के चिन्तन में ही खोजा है ।

डॉ. कृष्णकुमार शर्मा (शैली-विज्ञान की रूपरेखा) ने शैली-विषयक अवधारणाओं को स्पष्ट किया है–

**1. जोल्लान** – भाषिक तत्त्व, जैसे– ध्वनि, शब्द, प्रत्यय, वाक्य-संरचना आदि का शैलीपरक कार्यफलन उनकी व्यंजकता में है ।

**2. एन. कृष्णस्वामी** – कविता में वच्यार्थ की अपेक्षा व्यंग्यार्थ अधिक महत्त्वपूर्ण होता है । भाषिक विश्लेषण के द्वारा इस व्यंग्यार्थ का उद्‌घाटन कैसे किया जाये । यह शैली-विज्ञान की समस्या है ।

हमारे यहाँ के प्राचीन काव्यशास्त्र में वामन के रीति सिद्धान्त, आनन्दवर्धन के ध्वनि सिद्धान्त, कुन्तक के वक्रोक्ति सिद्धान्त और क्षेमेन्द्र के औचित्य सिद्धान्त के अन्तर्गत भी मुख्यतः शैली का ही अध्ययन है ।

पाश्चात्य चिन्तकों में से जिन विद्वानों ने इस विज्ञान को प्रस्थापित करने में योग दिया है–

(1) चार्ल्स बेली – इन्होंने स्वीकार किया कि काव्य-भाषा के अध्ययन

के आधार पर भी रचना का मूल्यांकन हो सकता है ।

(2) रूसी और जर्मन समीक्षकों ने भी उसमें योगदान किया । जर्मन समीक्षकों ने दांते की डिवाइन कॉमेडी का वस्तुनिष्ठ अध्ययन किया ।

(3) लियो स्पिटजर (ऐसेज ऑन इंग्लिश एण्ड अमेरिकन लिटरेचर) ने इस तथ्य को उभारा कि कविता की रचना शब्द पर आधारित है । उन्होंने अन्य प्रकार की आलोचनाओं को अधिक उपयुक्त नहीं माना ।

(4) रोरिक अरबैक ने अपनी आलोचना में भाषा को ही आधार बनाया ।

(5) डेमीजो एलोंजी –इन्होंने स्पेनिश कविताओं का शैली-वैज्ञानिक विवेचन करके इस सिद्धान्त को और आगे बढ़ाया । साथ ही इस विज्ञान की अवधारणा भी प्रस्तुत की ।

## लेखक द्वारा प्रकाशित एवं निःशुल्क वितरित पुस्तकों की सूची :–

1. रामचरितमानससार
2. गीतासार
3. उपनिषद्सार
4. सत्यार्थप्रकाशसार
5. भक्ति
6. सुखीजीवन
7. आत्मबोध
8. वेदवाणी
9. वैदिकसाहित्य
10. अमृतवाणी
11. महर्षि दयानंद
12. स्वामी विवेकानंद
13. शरणागति
14. वैदिक रामायण
15. क्या आप जानते हैं ?
16. शेर-ओ-शायरी
17. ओ३म्
18. गायत्री रहस्य
19. अमर धर्मग्रंथ

## लेखक द्वारा अप्रकाशित पुस्तकों की सूची :–

1. अमर नीतिग्रंथ
2. पुराणपरिचय
3. ईश्वरसिद्धि
4. राष्ट्रभाषा हिन्दी
5. आर्यसमाज के महामानव
6. संस्कार
7. गीतांजलि
8. आर्यसमाज
9. ज्ञानामृत
10. यज्ञ
11. संत
12. संतवाणी
13. भतृहरिशतक
14. ब्रह्मचर्य
15. गृहस्थ
16. धर्म
17. कर्म
18. मन
19. सुखी कौन?
20. भारत के क्रांतिकारी
21. भारत के भक्त
22. प्रभुभक्ति
23. वेदसार
24. ज्ञानगंगा
25. पाँच शत्रु
26. सच्ची वाणी
27. मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम
28. महावीर हनुमान
29. योगिराज श्रीकृष्ण
30. आदिशंकराचार्य
31. आचार्य चाणक्य
32. स्वामी रामतीर्थ
33. दस गुरु
34. आत्मकथा
35. वैदिक मनुस्मृति
36. वैदिक उपनिषद्वाणी
37. वैदिक दर्शनवाणी
38. वैदिक महाभारत
39. वैदिक गीता
40. **General English (Part I to V) (For All Classes)**
41. **Great Thoughts**
42. **Great Indians**
43. **Great Thinkers**
44. **Great Scientists**
45. सामान्य हिन्दी (भाग I-II) (सब कक्षाओं के लिये)
46. 1000 हिन्दी साहित्य प्रश्नोत्तरी
47. हिन्दी साहित्य का इतिहास
48. भाषा विज्ञान
49. आलोचना

कृपया पाठकगण इस ओर भी ध्यान दें कि इनकी निम्नलिखित पुस्तकों को इनकी **Website : www.dpkapoorbooks.co.in** पर भी देखा जा सकता है ।

1. अमृतवाणी
2. आर्यसमाज
3. आर्यसमाज के महामानव
4. अमर नीतिग्रंथ
5. अमर धर्मग्रंथ
6. ईश्वरसिद्धि
7. गायत्रीरहस्य
8. ज्ञानामृत
9. गीतांजलि
10. क्या आप जानते हैं ?
11. ओ३म्
12. पुराणपरिचय
13. राष्ट्रभाषा हिन्दी
14. संस्कार
15. संत
16. संतवाणी
17. शरणागति
18. शेर-ओ-शायरी
19. यज्ञ
20. भर्तृहरिशतक
21. ब्रह्मचर्य
22. गृहस्थ
23. धर्म
24. कर्म
25. मन
26. सुखी कौन ?
27. भारत के क्रांतिकारी
28. भारत के भक्त
29. प्रभुभक्ति
30. वेदसार
31. ज्ञानगंगा
32. पाँच शत्रु
33. सच्ची वाणी
34. मर्यादा पुरुषोत्तम श्रीराम
35. महावीर हनुमान
36. योगिराज श्रीकृष्ण
37. आदिशंकराचार्य
38. आचार्य चाणक्य
39. महर्षि दयानंद
40. स्वामी विवेकानंद
41. स्वामी रामतीर्थ
42. दस गुरु
43. आत्मकथा
44. वैदिक साहित्य

(जारी...)

45. वैदिक मनुस्मृति
46. वैदिक उपनिषद्वाणी
47. वैदिक दर्शनवाणी
48. वैदिक रामायण
49. वैदिक महाभारत
50. वैदिक गीता
51. **Great Thoughts**
52. **Great Indians**
53. **Great Thinkers**
54. **Great Scientists**
55. **General English**
    **(Part I to V)**
    **(For All Classes)**
56. सामान्य हिन्दी (भाग **I-II**)
    (सब कक्षाओं के लिये)
57. 1000 हिन्दी साहित्य प्रश्नोत्तरी
    (सब प्रकार की प्रतियोगी परीक्षाओं के लिए)
58. हिन्दी साहित्य का इतिहास
    (पंजाब विश्वविद्यालय की एम.ए. हिन्दी की कक्षा के लिए)
59. भाषा विज्ञान
    (पंजाब विश्वविद्यालय की एम.ए. हिन्दी की कक्षा के लिए)
60. आलोचना
    (पंजाब विश्वविद्यालय की एम.ए. हिन्दी की कक्षा के लिए)